157

भारत का विधि आयोग

सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम तथा उसके संशोधन : धारा 52

पर

एक सौ सत्तासवाँ रिपोर्ट

अप्रैल 1998

न्यायाधीश
बी० पी० जीवन रेड्डी
अध्यक्ष
विधि आयोग, भारत सरकार

भारत का विधि आयोग
शास्त्री भवन
नई दिल्ली - 110001
दूरभाष 3384475
निवास
1, जनपथ, नई दिल्ली - 110001
दू०भा० 3019465

23 अप्रैल, 1998

अ०भा०सं० 6(3)(46)/98-एल०सी०(एल०एस०)

प्रिय विधिमंत्री,

मुझे, विधि आयोग की एक सौ सत्तावनवीं रिपोर्ट, जो "सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 52 : तथा उसके संशोधन" के सम्बन्ध में है, आपको अग्रेषित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। यह धारा सम्पत्ति अन्तरण तथा उससे सम्बन्धित लम्बित वाद अथवा कार्यवाही के बारे में है।

यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि कुछ वर्ष पूर्व विधि आयोग ने सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 के सम्बन्ध में भारत सरकार को अपनी सत्तरवीं रिपोर्ट अग्रेषित की थी। रिपोर्ट के कार्यान्वयन की प्रतीक्षा है। इस बीच आयोग ने आज की परिस्थीतियों में स्थावर सम्पत्ति के हक की न्यूनतम निश्चितता सुनिश्चित करने की तत्काल और अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए स्वत: ही इस विषय को लेना उचित समझा है। इस उपबन्ध की व्यापक शब्दावली से जैसी कि यह इस समय है, अनेकों कठिनाईयाँ पैदा होती है और इसका भूमि तथा अन्य श्रेणियों की स्थावर सम्पत्ति के हक की निश्चितता पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। भूमि, किसी भी

अर्थव्यवस्था का अत्यन्त महत्वपूर्ण संसाधन है, इसलिए, यह आवश्यक है कि उस पर हक जितना भी अधिक से अधिक स्पष्ट हो उतना ही अच्छा है ।

3. सिफारिशें, उपर्युक्त खामियों को दूर करने तथा धारा 52 में अन्तर्विष्ट उपबंधों को अधिक आशयपूर्ण और न्यायोन्मुख बनाने के विचार से की गई हैं। हम आशा करते है कि ये सिफारिशें, यदि क्रियान्वित की जाती है तो, सदाभावपूर्ण क्रेताओं के हित को पर्याप्त सीमा तक संरक्षण प्रदान करेंगी ।

सादर,

आपका

ह0
(बी0 पी0 जीवन रेड्डी)

माननीय डा0 एम0 थम्बी दुरै,
विधि, न्याय और कम्पनी कार्य मंत्री
शास्त्री भवन,
नई दिल्ली ।

विषय सूची

		पृष्ट
अध्याय- एक	प्रस्तावना	1 - 13
अध्याय- दो	विवारधीन वाद का सिद्धान्त - उसका सामान्य अर्थ तथा सुसंगतता	14 - 28
अध्याय- तीन	धारा 52: सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 तथा उसके संशोधन ।	29 - 57
अध्याय- चार	धारा 52 तथा सम्बद्ध उपबन्ध	58 - 71
अध्याय- पाँच	निष्कर्ष तथा सिफारिशें	72 - 76

अध्याय - I

प्रस्तावना

1. सम्पत्ति प्राप्त करना मनुष्य की मूल प्रवृत्ति

1.1 सम्पत्ति एक प्रकार से संचित श्रम है अर्थात मनुष्य के श्रम का प्रतिफल क्योंकि श्रम, जो अन्यथा विनष्ट हो जाता है, का संचय केवल सम्पत्ति के रूप में ही किया जा सकता है। यह सर्वमान्य सत्य है कि अपने श्रम का फल पाना प्रत्येक व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति है। कुछ न्यायविदों के मतानुसार इसी मूल प्रवृत्ति से ही सम्पत्ति का सृजन होता है। विधि, वास्तव में, व्यक्तियों को उनके द्वारा अर्जित वस्तुओं पर कतिपय अधिकार प्रदान करके इस मूल प्रवृत्ति को मान्यता देता है।

1.2 लॉक इस विचारधारा के प्रणेता है कि सम्पत्ति का अधिकार मनुष्य का सर्वोच्च प्राकृतिक अधिकार है और यह राज्य की मर्यादा है। लॉक की धारणा थी कि व्यक्ति प्राकृतिक रूप से पूर्णतया स्वतंत्र है, इस स्थिति में वह अपने कार्यों को सुनिश्चित कर सकते हैं तथा अपने और अपनी अधिकृत सम्पत्तियों का निपटारा करने के लिए, जिस प्रकार भी उचित समझे, स्वतन्त्र है और यह कि यह स्थिति इस अर्थ में एक प्रकार से समानता की स्थिति है और इस स्थिति में कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की इच्छा अथवा प्राधिकार के अधीन नहीं है। यह प्राकृतिक स्थिति प्राकृतिक नियमों से नियंत्रित है जो, मानवता की शांति और संरक्षण की दृष्टि से, मनुष्यों को यह पाठ पढ़ाती है कि क्योंकि सभी व्यक्ति समान और स्वतंत्र है इसलिए किसी भी व्यक्ति को दूसरों के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतंत्रता और सम्पत्तियों को हानि पहुंचाने का कार्य नहीं करना चाहिए जब तक यह प्राकृतिक स्थिति विद्यमान रही तब तक प्रत्येक व्यक्ति को प्राकृतिक नियमों को कार्यान्वित करने तथा इनके विरुद्ध आचरण करने के अपराध के लिए स्वयं ही दंड देने का अधिकार प्राप्त था । इस स्थिति की कुछ अपनी हानियां, असुविधाएं तथा खतरे भी थे। सर्वप्रथम, जीवन, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग अनिश्चित था तथा इन पर अन्य व्यक्तियों द्वारा अतिक्रमण किये जाने का निरन्तर भय बना रहता था । दूसरे , प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करने पर दण्ड देने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपने ही अभियोग में स्वयं ही न्यायाधीश (निर्णायक) भी था और उल्लंघन का प्रतिशोध लेने में न्यायोचित नियमों के अतिक्रमण की संभावना रहती थी।[2]

प्राकृतिक स्थिति के भ्रामक और अव्यवस्था के मामलों के समाधान के उद्देश्य से व्यक्तियों ने एक नीतिकुशल निकाय अथवा एक समुदाय बनाने का विचार किया। हॉब्स के विपरीत, जिन्होंने सामाजिक संविदा का अभिप्राय एक ऐसे समझौते लिया सभी व्यक्ति जिसके पूर्णतया अधीन होंगे और जो अपने आप में एक पूर्ण सार्वभौम सत्ता होगी, "लॉक" ने दृढ़तापूर्वक कहा कि व्यक्तियों ने राजनैतिक प्राधिकरण की स्थापना करते समय जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति [लॉक ने इन्हें सम्पत्ति की ही अवधारणा में सम्मिलित माना है [3]] के नैसर्गिक अधिकारों को अक्षुण रखा है जो राजनैतिक पूर्व स्थिति में उनके अपने अधिकार थे । लॉक की अवधारणा में सम्पत्ति का अधिकार समुदाय अथवा राज्य ने नहीं बनाया अपितु प्राकृतिक स्थिति में पहले ही से विद्यमान था । उनके विचार से सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए राज्य अस्तित्व में आया। उनके अनुयायी पाऊन्ड ने कहा "एक सभ्य समाज में मनुष्यों को यह समझ लेना चाहिए कि वे अपने लिए लाभार्थक प्रयोजनों के लिए, जो कुछ उन्होंने खोजे हैं और जो उनके लिए उपयोगी है, जो कुछ उन्होंने अपने श्रम से सृजित किया है और जो उन्होंने विद्यमान सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत अर्जित किया है, नियंत्रण रखते है। अरस्तु के अनुसार सम्पत्ति अच्छे जीवन के लिए अनिवार्य है। वह इसे मानव के व्यक्तित्व का विस्तार मानते है। उनका विचार है कि सम्पत्ति प्राप्त करने की प्राकृतिक मूल प्रवृत्ति तथा उदारता की प्राकृतिक प्रेरणा की सन्तुष्टि के लिए सम्पत्ति अनिवार्य है।

1.3 लॉक ने लिखा है : सम्पत्ति की सीमा मनुष्य के श्रम और जीवन सुविधाओं के स्तर द्वारा सुनिश्चित है। किसी भी मनुष्य का श्रम सभी कुछ अपने वश में अथवा हस्तगत नहीं कर सकता है, ना ही वह अपने आमोद-प्रमोद में एक लघु भाग से अधिक उपभोग कर सकता है। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति के लिए दूसरे व्यक्ति के अधिकारो को हानि पहुँचाना अथवा अपने पड़ौसी के हितों को हानि पहुँचा कर, जिसके पास अभी भी, उसकी सम्पत्ति दूसरे व्यक्ति के द्वारा हड़प लिये जाने के बाद भी, सम्पत्ति की उतनी ही अच्छी और इतनी ही अधिक संभावनाये है जितनी की उसकी सम्पत्ति हस्तगत कर लिये जाने के पूर्व उपलब्ध थीं, उसकी सम्पत्ति अर्जित कर लेना संभव नही है [4] ।

1.4 वर्ष 1302 में जॉन ऑफ पैरिस ने यह तर्क दिया था कि एक कलर्जी को अपने आध्यात्मिक कार्य करने के लिये सम्पत्ति एक साधन है और इसलिए उन्हें अपने पास सम्पत्ति रखने में कुछ भी अनुचित नहीं है [5]। इसी प्रकार महाभारत में भी यही उल्लेख है " धन-सम्पदा से ही सभी धार्मिक कार्य (दान, पुण्य आदि) सम्पन्न होते हैं, यही सभी प्रकार के आनन्द प्राप्त करने का साधन है, हे राजन, धन (अर्थ) से स्वर्ग भी प्राप्त किया जा सकता है [6]। कौटिल्य का भी यही विचार है कि "धन केवल धन ही महत्वपूर्ण है क्योंकि पुण्य-दान और इच्छाओं की पूर्ति धन पर ही निर्भर है[7]।

1.5 लॉक की ही भांति बादिन के विचार में भी सम्पत्ति का अधिकार प्रकृति के नियम में निहित है क्योंकि आत्म रक्षा मनुष्य की मूल प्रवृति है। बादिन के मतानुसार सम्पत्ति परिवार का धर्म/गुण है और परिवार राज्य की आधारशिला। हीगल के विचार में सम्पत्ति व्यक्ति के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक है। उनका विचार था कि "सम्पत्ति की प्राप्ति से ही मनुष्य विवेकशील बनता है" उन्होंने निजी सम्पत्ति को मनुष्य की इच्छा के अभिप्राय के रूप में न्यायोचित ठहराया है [8]।

1.6 बैन्थम के अनुसार सम्पत्ति मनुष्य की इच्छाओं/आकांक्षाओं का आधार है और उनके विचार में विधायिका का यह कर्तव्य हो जाता है कि यदि वह समाज को सुखी, सम्पन्न देखना चाहता है तो वह व्यक्ति की आशाओं/ आकांक्षाओं में व्यवधान उत्पन्न न करे।

1.7 सम्पत्ति का अधिकार इसीलिए प्रयासों का प्रोत्साहन है। यह मनुष्य को उद्यमी और दूरदर्शी होने के लिए प्रेरित करता है। राज्य को न केवल प्राकृतिक न्याय की इस मांग को पूरा करने की गारन्टी देनी चाहिए कि मनुष्य को उसके श्रम का पुरस्कार पाने का अधिकार है अपितु उसे आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने की भी गारन्टी देनी चाहिए [9]।

1.8 सम्पत्ति की अवधारणा भी आर्थिक विकास के साथ बदलती रहती है [10]। मानवीय अस्तित्व के आदिकाल (शिकार करने और मछली पकड़ने) में सम्पत्ति का अधिकार प्रभावी कब्जे तक सीमित था।

स्वामित्व और उपयोग साथ-साथ चलते थे। स्त्री भूसम्पत्ति के अधिकार का आधार पहले कब्जे को मानता है। विगतकाल में कृषि संबंधी ज्ञान प्राप्ति के साथ भूमि और पशु सम्पदा के महत्वपूर्ण स्वरूप बन गए । तत्पश्चात मुद्रा का आविष्कार सम्पत्ति के इतिहास का स्मरणचिह्न बन गया । इससे पूर्व वस्तु का निमय प्रणाली भी प्रचलित थी परन्तु विनिमय अर्थव्यवस्था में सम्पत्ति की सीमा और क्षेत्र का सीमित होना निहित था । मौद्रिक अर्थव्यवस्था ने समाज में सम्पत्ति संबंधो में क्रान्ति ला दी । उत्पादन प्रक्रिया में मशीनों के प्रयोग से मौद्रिक अर्थव्यवस्था ने पूंजीवाद का रूप ले लिया । इस पूंजीवाद ने सम्पत्ति की अवधारणा का और विकास किया । हम सम्पत्ति की ऐसी अवधारणा तक पहुँच गए जिसमें अन्य चीजों के साथ-साथ प्रतिभूतियां, हुंडी, शेयरस , सर्टीफिकेट्स, बान्डस तथा डिबेन्चर्स, स्टाक्स तथा हस्तांतरित करने योग्य लेख पत्र जैसे कागजों के बंडल भी शामिल हो गए । हिन्दु धर्म की स्थायी निधि [11] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह विचार व्यक्त किया कि सम्पत्ति शब्द को उदार और व्यापक अर्थ दिया जाना चाहिए और इन्हे उस सभी लोकान्य हितो के लिए, जो स्वामित्व अधिकार के प्रतीक है अथवा जिन में ऐसे लक्षण है, लागू किया जाना चाहिए ।

1.9 सम्पत्ति क्या है इसकी कानूनी अवधारणा समय - समय पर और स्थान -स्थान पर भिन्न-भिन्न रही है । एक विधिक प्रणाली में जिसे सम्पत्ति माना जाता है दूसरी विधिक प्रणाली में हो सकता है ऐसा न हो यहाँ तक कि कानून भी किसी विशिष्ट कथन की मान्यता सही ठहराने अथवा उसे कानूनी संरक्षण प्रदान के लिए प्रावधान करने में भी विफल हो सकता है । इसका एक आंशिक कारण तो है सामाजिक व्यवस्था में अन्तर जिसमें विधिक प्रणाली चल रही है और दूसरा आंशिक कारण है किसी देश विशेष में विधिवेत्ताओं की विचारधारा ।

1.10 <u>मनुष्य के सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता देने की आवश्यकता :-</u>

पुरानी कहावत है कि सम्पत्ति केवल राज्य की सुरक्षा में ही अर्जित की जा सकती है । वास्तव में सम्पत्ति वही है जो विधि मान्य है । फिर भी, यह भी सच है कि सम्पत्ति के अधिकार असीम नहीं हो सकते । जैसा कि लिन्डसे ने कहा है, सम्पत्ति के अधिकार के लिए सामाजिक मान्यता आवश्यक है । सामाजिक स्वीकृति के बिना किसी वस्तु के उपयोग का मूल

अधिकार नहीं है । प्रचीन काल में "दासों" के सम्पत्ति के अधिकार को भी उचित मान्यता प्राप्त थी परन्तु दास प्रथा की समाप्ति के बाद अधिकार के किसी अनुमानित सिद्धान्त के पक्ष में कोई दावा नहीं किया जा सकता । इसलिए, सामाजिक मान्ता के अभाव में किसी व्यक्ति को अपने पर भी सम्पत्ति का अधिकार नहीं है [12]। (लॉक ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व में ही सम्पत्ति प्राप्त है)

सम्पत्ति और उसकी मान्यता सामाजिक मान्यता पर निर्भर है । यह पहले हिन्दु न्यायविदो को विदित था । कुछ हिन्दु न्यायविदों के अनुसार सम्पत्ति की अवधारणा का शास्त्रों में विशिष्ट रूप से उल्लेख किया गया है और स्वामित्व केवल उनकी मान्य पद्धतियों के अनुसार ही अर्जित किया जा सकता है [13]। श्री धारेश्वर जिमुध्याना तथा उसके अनुयायियों द्वारा इस अवधारणा का समर्थन किया गया है। दूसरी ओर श्री विज्ञानेश्वर तथा उनके अनुयायियों के विचार में सम्पत्ति के अवधारण शास्त्रों पर निर्भरता के बिना ही, लोकप्रिय मान्यता पर आधारित है क्योंकि सम्पत्ति जुटाना और अर्जन के लोकप्रिय व्यवहार द्वारा मान्य साधन निर्धारित करना जो प्रशंसनीय और अनुसरणीय है, स्वामित्व प्राप्त करने की पद्धतियां है। बाद की यह विचारधारा कि लोकप्रिय मान्यता सम्पत्ति की आधारशिला है सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है । सम्पत्ति के अधिकार को मानव के एक मूल अधिकार के रूप में भी मान्यता प्राप्त है । मानव अधिकारों संबंधी विश्वव्यापी उद्घोषणा के अनुच्छेद 17 में यह घोषणा की गयी है कि " प्रत्येक व्यक्ति को अकेले तथा दूसरों के साथ मिलकर भी सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार है" और यह कि किसी भी व्यक्ति को निरंकुश रूप में उसकी संपत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता।

सम्पत्ति, इसलिए, सामाजिक मान्यता तथा आर्थिक विकास की सृष्टि है । राज्य को, जो सामाजिक मान्यता का निर्देश देता है और आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देता है, अन्ततः वे उपाय सुनिश्चित करने चाहिये जिनसे सम्पत्ति के अधिकार की गारंटी दी जायेगी । इस प्रकार सम्पत्ति का अधिकार राज्य के सामाजिक और राजनैतिक दर्शन का परिचायक है । यह राजनैतिक व्यवस्था की आधारशिला है [14]।

1.11 परवर्ती व्यवस्थाओं को मान्यता :-

किसी भी समाज को, सामाजिक व्यवस्था की सर्वप्रथम आवश्यकता के रूप में, अपने क्षेत्र में विद्यमान भूमि और वस्तुओं पर नियंत्रण के अधिकार नियत करने चाहिये । नियतन की पद्धति भिन्न-भिन्न हो सकती है परन्तु उसके संसाधनों का नियतन होना ही चाहिए । एक बार संसाधनों के मालिकाना अधिकार/स्वामित्व को मान्यता मिल जाने पर अधिकारों, मूल रूप में मान्य, की परवर्ती व्यवस्थाओं को मान्यता देने के लिए भी प्रावधान किया जाना चाहिए । यह सम्पत्ति के हस्तांतरण के बारे में कानून की महत्ता को दर्शाता है। अधिकार के हस्तांतरण में वास्तव में, उस अधिकार के विद्यमान होने की पूर्वधारणा उपलब्ध है ।

अधिकारों का नियतन किसी समाज विशेष के मानदंडों के अनुसार किया जा सकता है परन्तु नियतन का कोई स्वरूप होना चाहिए । प्राकृतिक स्थिति से सभ्य समाज तक के संक्रमण काल में, रूसो के अनुसार " अनधिकृत कब्जों को सच्चे अधिकार तथा स्वामित्व में परिवर्तित कर दिया"[16]। इस प्रकार सभ्य समाज सम्पत्ति के क्षेत्र में वास्तविक कानूनों के विधिक सिद्धान्त के रूप में स्थान्तरण को स्वीकृत तथ्य मान लेता है । अपनी स्वीकृति की मोहर लगा समाज द्वारा इन अधिकारों को एक बार मान्यता मिल जाने पर उनके हस्तांतरण के लिए भी प्रावधान किया जाना चाहिए । हस्तांतरण के प्रावधान समाज विशेष के मानदंडों के अनुसार भिन्न भिन्न तो कर सकते है परन्तु प्रावधान किये अवश्य जाने चाहिए [16]।

के०के० मैथ्यू ने टिप्पणी[17] की है कि सम्पत्ति की व्यवस्था, अपने भौतिक संसाधनों पर नियंत्रण नियत करने के निर्धारित मानदंडों के संदर्भ में, किसी भी समुदाय के लिए अनिवार्य है । हॉब्स तथा रूसो का उल्लेख करते हुए उन्होने यह निष्कर्ष निकाला है कि किसी भी समाज को सामाजिक व्यवस्था की सर्वप्रथम अनिवार्यता के रूप में, अपनी भूमि और वस्तुओं पर नियंत्रण का अधिकार नियत करना चाहिए [18]।

सम्पत्ति मानवीय प्रतिष्ठा की अनिवार्य गारंटी है क्योंकि मनुष्य को अपने को मानवीय रूप देने के लिए उसे एक निश्चित स्वतंत्रता और सुरक्षा की आवश्यकता है [19]।

1.12 भारतीय संविधान में संपत्ति का अधिकार :-

मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्ति तथा अपने श्रम के फल का आनन्द उठाने की आकांक्षा को स्वीकारते हुए सम्पत्ति का अधिकार प्रारम्भ में भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19(1)(च) और अनुच्छेद 31 में, वस्तुत: समाज के अधिकांश हितों को ध्यान में रखते हुए कतिपय अपवादों के अध्यधीन मूल अधिकार के रूप में शामिल किया गया था । जबकि अनुच्छेद 31 का खण्ड (1) भाग तीन से अनुच्छेद 350क में ले आया गया है उसी अनुच्छेद के, सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण से संबंधित, खण्ड 2 का संविधान (चवालीसवां संशोधन) अधिनियम 1978 द्वारा निरस्त कर दिया गया है । सम्पत्ति अर्जित करने, रखने तथा उसका निपटान करने की गारंटी देने से संबंधित अनुच्छेद 19 के खण्ड 1 के उपखण्ड (च) का भी इसी अधिनियम द्वारा निरसन कर दिया गया है । अब संविधान में पुरस्थापित किये गये नये अनुच्छेद 300 क में यह प्रावधान है कि " किसी भी व्यक्ति को, विधिक प्राधिकार के सिवा, उसकी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा" । संक्षेप में, इन परिवर्तनों का परिणाम यह हुआ है कि भारतीय संविधान में सम्पत्ति का अधिकार अब मूल अधिकार नहीं रहा है अपितु 300 क में इसे संवैधानिक अधिकार के रूप में रखा गया है ।

1.13 विवादो के समाधान के लिए तंत्र :-

एक बार राज्य द्वारा मनुष्य के सम्पत्ति अर्जित करने तथा सम्पत्ति रखने के अधिकार को मान्यता दे दिये जाने पर इससे उसे, कतिपय सुस्पष्ट रूप में परिभाषित अपवादों के अध्यधीन जो राज्य जनहित में तथा सामाजिक-आर्थिक न्याय सुनिश्चित करने की दृष्टि से निर्धारित करे, अपने सम्पत्ति का उपभोग करने की अनुमति देने की आवश्यकता पैदा हो जाती है । जब तक सम्पत्ति के स्वामी को अपनी सम्पत्ति का शान्तिपूर्वक उपभोग करना राज्य द्वारा सुनिश्चित नहीं किया जाता, उसका सम्पत्ति का अधिकार निरर्थक हो जाता है । अन्तत: जिसकी लाठी उसकी भैंस का सिद्धान्त ही राज्य में चलता रहेगा । यदि राज्य ऐसे विवादो के समाधान के लिए किसी तंत्र की व्यवस्था नहीं करता तो इससे विवाद और तनाव उत्पन्न होंगे जिससे समाज की कानून और व्यवस्था भंग होगी । कोई भी

सरकार यह सहन नहीं कर सकती कि उसके नागरिक किसी अन्तहीन प्रक्रिया द्वारा अपने विवादों का समाधान खोजने में सदैव व्यस्त रहें । यह विधि का मूल सिद्धान्त है कि जहाँ अधिकार है वहाँ उसका उपचार भी है ।

विवादों के समाधान के प्रभावी साधनों की व्यवस्था करने के सर्वाधिक महत्व और आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए हमारे देश में इस प्रयोजन से न केवल हमारे संविधान में अपितु अन्य विधियों के अन्तर्गत भी हमारे पर्याप्त प्रावधान किये गये हैं । संवैधानिक उपचारों के अतिरिक्त हमारे देश में सिविल स्वरूप की किसी भी शिकायत के लिए वादी को प्रत्येक विधि से स्वतंत्र रूप में अधिकार है । यह अधिकार है कि वह सिविल अदालत में जिसके क्षेत्राधिकार में वह मामला आता है, जब तक कि उसका संज्ञान प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से बाधित न हो, मुकदमा दायर कर सकता है (धारा १, सिविल प्रक्रिया संहिता) उच्चतम न्यायालय ने व्यवस्था दी है :-

> "प्रत्येक व्यक्ति को सिविल स्वरूप का मुकदमा दायर करने का स्वाभाविक अधिकार है और जब तक इस प्रकार के मुकदमें पर किसी विधि द्वारा कोई रोक नहीं लगायी गयी है, कोई भी व्यक्ति अपनी जोखिम पर कोई भी मुकदमा दायर कर सकता है"[20] ।

विवादों के समाधान में विलम्ब को दूर करने के साथ ही व्यय को कम करने और न्याय को प्रभावी, कम खर्चीला तथा एक ठोस स्वरूप देने में सहायक होने के संदर्भ में एक सरल प्रक्रिया उपलब्ध कराना न्यायोचित प्रतीत होता है । यह निष्कर्ष निकालना अनिवार्य हो जाता है कि विवादों के निपटारे के लिए ऐसा फोरम सम्पत्ति के निपटान से उठने वाले हितों के वादों के समाधान में भी सक्षम होना चाहिए ।

सिविल प्रक्रिया संहिता, १९०८ पर विधि आयोग के 54वें प्रतिवेदन में यह टिप्पणी की गयी है कि प्रक्रिया न्याय का एक साधन है और यह देखना राज्य का कर्तव्य है कि उसकी विधि प्रणाली में ऐसी प्रक्रियाओं की कोई भुलभुलैया न रह जाए जिससे न्याय में बाधा पहुँचने

अथवा न्याय न हो पाने की संभावना हो ।

(पी आर 1.बी 2)

1.14 **विवादों के निपटारे के लिए तन्त्र की अधिकारिता विचाराधीन कार्यवाही के दौरान समाप्त नहीं हो सकती :-**

एक बार उस न्यायलय अथवा फोरम के समक्ष वाद अथवा याचिका दायर कर दिये जाने पर, उस मामले से संबंधित विषय पर जिसकी अधिकारिता है, उसे न्याय की सहायतार्थ सभी उपयुक्त निर्देश पारित करने की शक्ति प्राप्त है जब तक कि वह पदकार्य निवृत नहीं हो जाता । इस प्रकार यह सुनिश्चित है कि यदि कोई वाद विधिमान्य रूप में दायर किया जाता है और जिस तिथि को वह दायर किया गया है उस तिथि को उसे स्वीकार करना न्यायालय की अधिकारिता में आता है तो बाद की किसी भी घटना से वह प्रभावित नहीं होगा जब तक कि उस विषय में कानून बनाकर[21] स्पष्ट प्रावधान नहीं किया जाता । न्यायालय को वाद की पूरी कार्यवाही पर जब तक कि न्यायालय द्वारा निर्णय नहीं सुना दिया जाता, पूरा अधिकार होना चाहिए[22] । एक बार मामला न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से संबद्ध हो जाने पर, निजी लेन-देन की जो मुकदमें की विषयवस्तु को ही लम्बित विवाद पर निर्णय देने के न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से दूर कर दे अथवा जो मुकदमे को डिग्री होने से बचा ले, सार्वजनिक नीति के रूप में अनुमति नहीं दी जानी चाहिए । यदि लम्बित मामले अथवा कार्यवाही के दौरान विवादित सम्पत्ति की बिक्री की अनुमति दी जाती है तो इससे न केवल न्याय प्रक्रिया पराजित हो जायेगी अपितु इससे कार्यवाहियों में जटिलताएं पैदा हो जायेगी जो न्याय प्रक्रिया के लिये भी अस्वीकार्य स्थिति पैदा करेगी । यह सुनिश्चित करने के लिए कि ऐसी स्थिति पैदा न हो, सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 52 में इस आशय का प्रावधान किया गया कि वाद अथवा इस पर चल रही कार्यवाही के विचाराधीन होने के दौरान, न्यायालय के प्राधिकार के बिना, वाद अथवा उसकी कार्यवाही से संबंधित किसी पक्ष द्वारा सम्पत्ति का अन्तरण अथवा ऐसी कोई अन्य कार्यवाही नहीं की जा सकती जिससे वाद से संबंधित किसी दूसरे पक्ष के अधिकार पर, किसी डिग्री अथवा इस संबंध में जारी किये

जाने वाले आदेश के अन्तर्गत, कोई प्रभाव पड़े । यद्यपि उपर्युक्त धारा में अधिनियमित विचाराधीन वाद का सिद्धान्त एक उत्कृष्ट अवधारणा है जो न केवल विभिन्न प्रकार की कार्यवाहियाँ पैदा हो जाने की संभावना को रोकती है अपितु न्याय करने की निर्बाध प्रक्रिया भी सुनिश्चित करती है । फिर भी, कतिपय ऐसे महत्वपूर्ण मामले हैं जो सभी परिस्थितियों में इस सिद्धन्त के समुचित रूप से लागू होने पर प्रभावित होते हैं । इसलिए न्याय की माँग को ध्यान में रखते हुए इस संबंध में विचार किये जाने की आवश्यकता है ताकि सभी अन्तर्ग्रस्त हितों की सुरक्षा की जा सके । हम इन मामलों पर आगे आने वाले अध्यायों में विचार करेंगे ।

1.15 इस प्रतिवेदन का प्रविषय तथा उद्देश्य :-

यह प्रतिवेदन सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 52 से उत्पन्न एक छोटे से प्रश्न के बारे में है जो वादकालीन अचल सम्पत्ति के अन्तरण से संबंधित है । भारतीय विधि आयोग ने, इस धारा की वर्तमान व्यापक शब्दावलि से उत्पन्न होने वाली कठिनाईयों तथा उनके महत्व को देखते हुए, इस विषय को स्वयं चुना है । इन कठिनाईयों के बारे में अध्याय तीन में चर्चा की जायेगी ।

1.16 पूर्वतर प्रतिवेदन तथा वर्तमान प्रतिवेदन की आवश्यकता :-

यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि कुछ वर्ष पूर्व विधि आयोग ने सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 पर सरकार को एक विस्तृत प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था । इस प्रतिवेदन के कार्यान्वयन की प्रतीक्षा है । इस बीच आयोग ने, वर्तमान परिस्थितियों में, अचल सम्पत्ति के स्वामित्व के मामले में न्यूनतम स्तर तक एक निश्चितता सुनिश्चित करने की महत्ता तथा तत्काल आवश्यकता के देखते हुए इस विषय पर विचार करना उचित समझा है । यह प्रतिवेदन जिस कानूनी प्रावधान से संबंधित है उसका भूमि तथा अन्य प्रकार की अचल सम्पत्ति पर महत्वपूर्ण प्रभाव है । भूमि क्योंकि किसी भी अर्थव्यवस्था का अत्यन्त महत्वपूर्ण संसाधन है, इसलिए उसके स्वामित्व का अधिकार अधिकाधिक

रूप में स्पष्ट होना चाहिए । क्योंकि स्वामित्व की निश्चितता बहुत बड़ी सीमा तक इससे संबंधित कानूनी प्रावधानों के तर्कसंगत होने पर कार्यान्वयन के व्यवहारिक तथा प्रभावी होने पर निर्भर है, इसलिए यह स्पष्ट है कि इन प्रावधानों की समय समय पर जाँच तथा समीक्षा होती रहनी चाहिए ताकि कानून देश के महत्वपूर्ण आर्थिक संसाधन के स्वामित्व की निश्चितता को प्रोत्साहन देने के अपने उद्देश्य को पर्याप्त रूप में उपलब्ध कर सके ।

1.17 विधायी सक्षमता :-

सौभाग्यवश, सम्पत्ति अन्तरण विषय तथा इससे संबंधित पंजीकरण विषय (जिनके बारे में इस प्रतिवेदन में रखे गये विधायी प्रस्तावों में विचार करने का प्रस्ताव है) भारत के संविधान की सातवीं अनुसूची में समवर्ती सूची में सम्मिलित किये गये है, जिसकी प्रविष्टी 6 में कृषि भूमि के अतिरिक्त सम्पत्ति के अन्तरण, पंजीकरण तथा अन्य अभिलेखों का उल्लेख है ।

अध्याय - एक

पाद टिप्पण

1. लॉक, आफ सिविल गवर्नमेंट, एवरीमैन्स लाइब्रेरी संस्करण 1924, बुक II, अध्याय-दो, सैक्शन 4 और 6 लॉक पर देखें, प्रैंड्रिक पोलक "लाक्स थ्योरी आफ दी स्टेट" विषय पर उसके निबंधों में, लन्दन 1922, पृष्ट 80-102, केन्स, लीगल फिलासफी फ्राम प्लेटो टु हीगल, पृष्ट 335-361, जो0जे0ओतर, लाइफ, लिबर्टी एण्ड प्रापर्टी, बेलमौंट, कैलीफोर्निया 1971, सी0बी0 मैक्फर्सन, दी पालिटिकल थ्योरी आफ पजैसिव इन्डीविजुलिज्म, आक्सफोर्ड 1962, पृष्ट 199-262 ।
2. लॉक आफ सिविल गवर्नमेंट, बुक II, अध्याय नौ, सैक्शन 123, अध्याय दो, सैक्शन 12-13 ।
3. वही, अध्याय - सात, सैक्शन 87, अध्याय - नौ, सैक्शन 123 ।
4. वही, पृष्ट 4
5. एच0 एम0 जैन, राइट टू प्रापर्टी अन्डर दी इन्डियन कांस्टीट्यूशन, पृष्ट 1-2 ।
6. महाभारत शूत्र पर्व, अध्याय 8, श्लोक 17 गीता प्रेस गोरखपुर, पृष्ट 2 पर किया गया उल्लेख ।
7. अर्थशास्त्र बुक- I, अध्याय 7, पेरा 12, अनु0 आर0 शामशास्त्री, वही उल्लेख पृष्ट 2 ।
8. देखें, टिप्पण 5 ।
9. उसी स्थान पर ।
10. वही, पृष्ट 7-9 ।
11. कमिश्नर, हिन्दु रिलिजियस एन्डाउमेंट्स, मद्रास बनाम तीरथ स्वामीअय्यर, ए0आई0आर0 1954 सैक्शन 282 ।

12. ऑफि लॉक, टिप्पण 2 में उल्लिखित, पृष्ट 6-7 ।

13. पी0एन0 सेन, हिन्दु ज्यूरिसप्रूडेंस [1918] पृष्ट 42, सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम 1882 पर भारतीय विधि आयोग के 70वें प्रतिवेदन के पृष्ट 6 पर उद्धृत ।

14. देखें, टिप्पण 5, पृष्ट 9 ।

15. स्नो, सोशल कान्ट्रेक्ट, सम्पत्ति अंतरण अधिनियम 1882, भारतीय विधि आयोग, के 70वें प्रतिवेदन के पृष्ट 2 पर उल्लेख ।

16. वहीं पर ।

17. भारत के उच्चतम न्यायालय के भूतपूर्व न्यायधीश और भारतीय विधि आयोग के भूतपूर्व चेयरमैन श्री के0के मैथ्यू, भारतीय संविधान के अन्तर्गत समानता और सम्पत्ति का अधिकार, लैक्चर 11, पृष्ट 47 ।

18. वही, पृष्ट 49 ।

19. वही, पृष्ट 75 ।

20. श्रीमती गंगाबाई बनाम विजयकुमार तथा अन्य, ए0आई0 आर0 1974, सेक्शन 1126, पेरा 15 ।

21. वेणुगोपाल रेड्डियार बनाम कृष्णास्वामी रेड्डियार, ए0 आई0आर0 1943 एफ सी 24 आफिशियल रिसिवर बनाम जुगल किशोर, ए0आई0आर0 1963 ए 11 459 ।

22. सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908, नवां संस्करण, खण्ड-1, पृष्ट 86 ।

23. "सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 " पर विधि आयोग का 70वां प्रतिवेदन ।

विचाराधीन वादों का सिद्धान्त - सामान्य अर्थ तथा प्रासंगिकता

2.1 अधिकार उपचारों पर निर्भर है । यह तथ्य सम्पत्ति के अधिकार के बारे में भी सत्य है । क्योंकि शीघ्र तथा प्रभावी उपचार अत्यन्त महत्वपूर्ण है, इसलिए यह सुनिश्चित करना होता है कि अपने अधिकार का अतिक्रमण अथवा अतिक्रमण की धमकी के विरुद्ध उपचार माँगने के लिए यदि किसी व्यक्ति ने किसी न्यायालय में विधिक प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी है, तब प्राइवेट कार्यवाही तथा संव्यवहार के कारण अर्थात विवादित सम्पत्ति के अन्तरण अथवा ऐसी विधिक प्रक्रिया के किसी पक्ष द्वारा किसी अन्य कार्यवाही के कारण विधिक प्रक्रिया विफल नहीं होनी चाहिए अन्यथा शिकायत के लिए राहत माँगना ही निरर्थक और निष्प्रभावी हो जाएगा । यह सुनिश्चित करने के उद्देश्य से कि विधिक उपचार समस्त विधिक प्रक्रिया के दौरान दक्षतापूर्ण बने रहें, न्यायविदों ने "विचाराधीन वाद" नामक एक सामान्य सिद्धान्त विकसित किया है जो इस आवश्यकता पर आधारित है कि मुकदमे से संबंधित किसी भी पक्ष द्वारा अपने विरोधी के हितों के प्रतिकूल सम्पत्ति का अन्य संक्रामण नहीं किया जायेगा ।

2.2 इस अध्याय में हम विशिष्ट विधिक प्रावधानों से इतना अधिक संपृक्त नहीं रहे है जितना कि ऐसे मामलों के नियमनकारी सामान्य सिद्धान्तों से । "लिस" का अर्थ कार्यवाही अथवा वाद से है । "पेन्डेन्स" "पेन्डो" शब्द का पास्ट पार्टीसिपिल है जिसका अर्थ चल रहे अथवा विचाराधीन मुकदमे के दौरान न्यायालय की अधिकारिता, शक्ति अथवा नियंत्रण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है । §34 अमरीकी विधिशास्त्र § ।

2.3 उपर्युक्त पुस्तक में इस सिद्धान्त का आधार इस प्रकार दिया गया है :

> "विचाराधीन वाद के सिद्धान्त के आधार के रूप में दो विभिन्न अभिमत व्यक्त किये गए है । कुछ प्राधिकारियों

के अनुसार, विचाराधीन वाद को समस्त विश्व के लिए एक नोटिस माना जाना चाहिए और इस अभिमत के अनुसरण में यह तर्क दिया गया है कि जो भी व्यक्ति अन्तग्रस्त सम्पत्ति के बारे में संव्यवहार करता है, इस उपधारणा के ज्ञात हो जाने पर कि वह जो कुछ कर रहा है उसका कार्य असद्भावपूर्ण है इसलिए वह दिये गए निर्णय से समुचित रूप में बाध्य है । दूसरे प्राधिकारियों का यह विचार है कि यह सिद्धान्त नोटिस पर किंचित भी आधारित नहीं है, अपितु यह एक लोकनीति के रूप में, अथवा विवादग्रस्त सम्पत्ति के इस प्रकार व्ययन को रोकने जिससे न्यायालय की डिक्री कार्यान्वित करने में हस्तक्षेप होता हो, जैसी एक आवश्यकता पर आधारित है, यह न्यायिक रूप से उद्घोषित है कि ऐसे सिद्धान्त के बिना विनिष्ट सम्पत्ति के सभी वाद वादान्तर्गत सम्पत्ति के उत्तरोत्तर अन्य संक्रामणों द्वारा निष्फल हो जायेंगे क्योंकि एक वाद का अन्त होने पर दूसरा आरम्भ हो जायेगा और तत्पश्चात तीसरा जिससे न्यायालय का आश्रय लेने पर भी किसी व्यक्ति के लिए अपना अधिकार पाना अव्यवहार्य हो जायेगा । (34 अमरीकी न्यायशास्त्र 363),

इस सिद्धान्त का उद्गम तथा इतिहास-

विचाराधीन वाद का सिद्धान्त प्राचीन परम्परा से चला आ रहा है । यह कहा जाता है कि सिविल लॉ में इसका उद्गम देखते हुए यह प्राचीन काल से ही "कामन लॉ" (इंग्लैण्ड का प्राचीन काल से प्रभावित औलिक्त कानून) के नियम के आधार के रूप में प्रभावी रहा है । जिसके फलस्वरूप वास्तविक अभियोजन में निर्णय विचाराधीन वाद के दौरान प्रतिवादी द्वारा किये गये किसी अन्य संक्रामण की सीमा से आगे निकल जाता है । समय के व्यतीत होने के साथ यह सिद्धान्त इक्विटी द्वारा स्वीकार कर लिया गया जो चांसलरी न्यायालय में उत्तम तथा अधिक नियमित विधिक प्रशासन के लिए

लार्ड बेकन के एक अध्यादेश में सन्निविष्ट है । इस अध्यादेश में, जो सामान्यतया बेकन का बारहवाँ नियम माना जाता है, यह व्यवस्था है कि " प्रतिवादी के हस्तान्तरण से सद्भावपूर्ण किसी भी डिक्री से कोई भी व्यक्ति अधिकार पत्र के प्रदर्शन से पूर्व, और जब तक अधिकार पत्र और आदेश उसे पक्षकार नही बनाया जाता है, आबद्ध नही होगा , परन्तु जहाँ वह वादकालीन विचार में अन्तर्ग्रस्त हो और जबकि वाद पर पूरी तरह से कार्यवाही चल रही हो, न्यायालय द्वारा किसी प्रकार के भते की कार्यवाही अथवा विधि द्वारा मान्य दोनों पक्षों के बीच किसी प्रकार के संबंध के आभास के बिना, डिक्री की नियमित रूप में आबद्धता है, परन्तु यदि वाद में किसी प्रकार की रुकावट आती है और न्यायालय को उससे अवगत करा दिया जाता है , तब न्यायालय विशिष्ट मामले में न्यायानुसार अपना आदेश देगा । इस प्रकार चांसरी के न्यायशास्त्र के इतिहास मे प्राचीन काल से इस प्रकार अपनाये गए सिद्धान्त का परम्परा से चले आ रहे चांसलरों द्वारा अनुसरण किया गया और उसके अनुसार कार्यवाही की गयी " इस विषय के लेखकों ने इसे एक स्थापित सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है" (34 अमरीकी न्यायशास्त्र 365)

2.4 विचाराधीन वाद संबंधी विधि पर अपने ग्रंथ में सूचना को इस नियम का आधार स्वीकार नहीं किया है । उन्होंने लार्ड चांसलर क्रेनवर्थ का उदाहरण दिया है [3] :

> "विचाराधीन वाद के बारे में यह कहना प्रायः ठीक नही है कि सूचना के सिद्धान्त से क्रेता का हित प्रभावित होता है, यद्यपि न्यायालयों की भाषा में इसके कार्यान्वयन से निःसन्देह ऐसा प्रकट होता है । यह उसे सूचना के कारण प्रभावित नहीं करता है परन्तु क्योंकि विधि वाद के पक्षकारो को वाद के विचाराधीन रहने तक किसी एक के हित के विपरीत विवादित सम्पत्ति का अधिकार दूसरों को देने की अनुमति नही देती है । ----

मानवता की आवश्यकताओं की अपेक्षा है कि वाद पर न्यायालय का निर्णय केवल मुकदमे के सभी पक्षों के लिए ही बाध्यकारी नहीं होगा अपितु उनके लिए भी बाध्यकारी होगा जिन्हे वाद के विचाराधीन रहते हुए अन्य संक्रामण द्वारा स्वामित्व का अधिकार प्राप्त हो जाता है चाहे ऐसे अन्य संक्रान्तियों को विचाराधीन कार्यवाही की सूचना मिली हो अथवा नहीं । यदि ऐसा न होता तो कभी भी यह निश्चित नहीं हो पाता कि मुकदमेबाजी कभी समाप्त भी होगी अथवा नही, उन्होने आगे कहा :

"वास्तविक अथवा रचनात्मक सूचना विचाराधीन वाद के सिद्धान्त की आधारशिला नही है, यह सिद्धान्त पूर्णतया आवश्यकता पर आधारित है - इस आवश्यकता पर कि वाद के किसी भी पक्ष द्वारा अपने विरोधी के हितों के प्रतिकूल विवादित सम्पत्ति का अन्य संक्रामण नहीं किया जाना चाहिए" ।

2.5 विचाराधीन वाद का सिद्धान्त इस नीति के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है कि "वाद के विचाराधीन रहते हुए कुछ भी नया किया जाना चाहिए । कोरपस जूरिस सैकिन्डम [L IV, पृष्ठ 570] में उच्चतम न्यायालय द्वारा जयराम मुदालियर बनाम अय्यरस्वामी[4] तथा राजेन्द्रसिंह बनाम सन्त सिंह[5] मामलों में दिये गये उद्धरणों में निम्नलिखित परिभाषा मिलती है:-

"लिस पेन्डेन्स का शाब्दिक अर्थ विचाराधीन वाद है और विचाराधीन वाद के सिद्धान्त को, कार्यवाही के चलते मामले में अन्तिम निर्णय होने तक, वाद में अन्तर्ग्रस्त सम्पत्ति पर न्यायालय की अधिकारिता, शक्ति तथा नियंत्रण के रूप में परिभाषित किया गया है"।

उपर्युक्त जयराम के मामले में जैसाकि उच्चतम न्यायालय ने ने टिप्पणी की है कि " सिद्धान्त के स्पष्टीकरण से पता चलता है कि इसकी आवश्यकता न्यायालयों की अधिकारिता और संबंधित वाद के विषय पर उनके नियंत्रण के स्वरूप से पैदा होती है ताकि न्यायालय के समक्ष वाद के पक्षकार विषय के किसी भाग को न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से बाहर न ले जाये और इस प्रकार कार्यवाही को निरर्थक ही न बना दें"।

2.6 विचाराधीन वाद का सिद्धान्त जिस नियम पर आधारित है उसका स्पष्टीकरण बेलमी बनाम सेबाइन[6] के प्रमुख मामले में दिया गया है जहाँ एल0 जे0 टर्नर ने टिप्पणी की है:-

> "यह मेरे विचार में लॉ तथा इक्विटी दोनों न्यायालयों के लिए समान सिद्धान्त है और जहाँ तक मैं समझता हूँ, इसकी आधारशीला यह है कि यदि विचाराधीन वाद के दौरान अन्य संक्रामण के लिए अनुमति दे दी जाती है तो किसी भी अनुयोजन या मुकदमे का सफलतापूर्वक निपटारा नहीं हो सकता । वादी प्रत्येक मामले में, निर्णय अथवा डिक्री से पूर्व प्रतिवादी के अन्य संक्रमण द्वारा, पराजित हो जायेगा और उसे फिर नये सिरे से कार्यवाही करने के लिए विवश होना पड़ेगा और इसी प्रकार की कार्यवाही से उसे फिर पराजित होना पड़ेगा"।

इसी मामले में लार्ड क्रेनवर्थ ने स्पष्ट किया है कि सिद्धान्त सूचना पर आधारित नहीं है।उन्होंने कहा :-

> "यह कहना ठीक नहीं है कि वादकालीन अन्तरण का सिद्धान्त सूचना के आधार पर क्रेता को प्रभावित करता है यद्यपि न्यायालयों की भाषा से कभी कभी ऐसा प्रकट होता है । वह उसे इसलिए प्रभावित नहीं करता कि वह सूचना के समान होता है बल्कि इसलिए कि विधि मुकदमे के पक्षकारों को मुकदमे के दौरान विवादग्रस्त सम्पत्ति में अन्य व्यक्तियों को ऐसे अधिकार देने की

अनुज्ञा नहीं देती है जिससे विरोधी पक्षकार के अधिकार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े"।

2.7 उपर्युक्त निर्णय का प्रिवी काउन्सिल द्वारा पैयाजहुसैन खाँ बनाम मुंसिफ प्राग नारायण के मामले में, जो भारत में वादकालीन अन्तरण का एक प्रमुख मामला है, उदाहरण दिया गया तथा अनुसरण किया गया । प्रिवी काउन्सिल की न्यायिक समिति द्वारा निर्धारित अनुपात को समझने के लिए इस मामले के सम्बद्ध तथ्यों का संक्षेप में उल्लेख करना उचित ही होगा । 14 जून, 1889 को मौजा बांगवा के मालिक हमीर हुसैन ने उसे नवल किशोर के पास बंधक रखा । 13 जुलाई, 1891 को नवल किशोर ने अपने पास बंधक रखी सम्पत्ति के विक्रय में एक मुकदमा दायर किया । 23 अगस्त, 1892 उसे विक्रय के लिए डिग्री प्राप्त हो गयी जिसे 21 नवम्बर, 1895 को पूर्णता प्राप्त हो गई । नवल किशोर की डिग्री के कार्यान्वयन में 21 फरवरी 1901 को सम्पत्ति का विक्रय कर दिया गया जिसे प्रत्यर्थी प्राग नारायण ने, जो डिग्री धारी के पुत्र तथा प्रतिनिधि थे, क्रय किया । 2 जुलाई 1901 को प्राग नारायण ने विक्रय प्रमाण पत्र प्राप्त किया और सम्पत्ति पर अपना अधिकार प्राप्त करने का प्रयास किया। तथापि इस कार्य को अपीलार्थी पैयाज हुसैन ने , जिसने पाश्चिक बंधक पर विक्रय हेतु डिग्री प्राप्त कर ली थी,हर सम्भव रूप में रोका । प्राग नारायण को मुकदमा दायर करने के लिए बाध्य होना पड़ा । न तो नवल किशोर के पास 14 जून 1889 को बंधक रखी सम्पत्ति के समय कोई भार था और न ही 13 जुलाई, 1891 को नवल किशोर द्वारा दायर किये गये वाद के समय ही कोई भार था । परन्तु 15 जुलाई 1891 को नवल किशोर के वाद के समय तामील होने से पूर्व ही बंधककर्ता ने मिर्जा मुजफ्फर बेग को सम्पत्ति दूसरी बार बन्धक रख दी । मिर्जा संभवतया इससे अज्ञात नहीं थे अथवा उन्होंने इसे किसी बड़ी कठिनाई का मामला नहीं माना ।

विचाराधीन वाद का सिद्धान्त जो 1882 के अधिनियम की धारा 52 से संबंधित है, उस विचारधारा का पोषक नहीं है जो

एल० जे० टर्नन ने बेलामी बनाम सेबाइन के मामले में व्यक्त की है कि यह सिद्धान्त "विवर्धित या आन्वयिक सूचना पर आधारित है। यह विधि तथा साम्या दोनों न्यायालयों के लिए एक सामान्य सिद्धान्त है और इस अभिमत पर आधारित है कि यदि वादकालीन अन्यसंक्रामण की अनुमति दी गई है तो कभी भी किसी वाद या कार्यवाही को समाप्त करना असंभव हो जाएगा"। इस मामले में एल० सी० ग्रेनवर्थ ने इस सिद्धान्त के बारे में सही टिप्पणी की है कि "वाद के विचाराधीन रहते हुए मुकदमें से संबंधित कोई भी पक्ष वादग्रस्त सम्पत्ति का इस प्रकार अन्यसंक्रामण नहीं कर सकता जिससे कि उसके विरोधी के हित पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े ।

तथापि, विचाराधीन वाद के सिद्धान्त, जो माननीय न्यायाधिशों के विचार में इस मामले पर लागू होता है, के अतिरिक्त यह स्पष्ट है कि अपने क्रय करने की तिथि को पैथाज हुसैन को सम्पत्ति के नवल किशोर के पास बंधक होने तथा बंधक के आधार पर जारी की गई डिग्री का पता था और उसे यह भी ज्ञात था कि सम्पत्ति के विक्रय की कार्यवाही चल रही है क्योंकि जुलाई 1918 में उसने प्राग नारायण के विरुद्ध एक वाद दायर किया जिसमें यह निर्णय मांगा गया कि नवल किशोर के पास सम्पत्ति का बंधक होना तथा इस आधार पर आदेशित डिग्री अवैध है और यह कि सम्पत्ति की कुर्की तथा बिक्री नहीं की जा सकती"।

2.9 इसलिए यह सिद्धान्त सूचना के सिद्धान्त पर आधारित नहीं है, अपितु सम्भीचीनता अर्थात अन्तिम न्याय निर्णयन की आवश्यकता पर । यह तर्क संगत है कि एक बार न्यायालय की अधिकारिता से संबद्ध हो जाने पर इसे प्रतिवादी के हित के अन्तरण द्वारा समाप्त नहीं किया जाना चाहिए । यदि ऐसा नहीं होता है , तो मुकदमेबाजी का अन्त नहीं होगा और न्याय पराजित हो जाएगा[3] । तथापि, निम्नलिखित मामले में यह कहा गया है कि इस धारा में अन्तर्विष्ट सिद्धान्त साम्य नैतिकता और न्याय के सिद्धान्त के अनुसार ही है क्योंकि वे समान तथा न्यायोचित आधारशिला पर टिके है ।

इसलिए, जहाँ सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 लागू नहीं होती है वहाँ इसमें अन्तर्निहित सिद्धान्त लागू होगा[9]।

2.9 पूर्व न्याय के संदर्भ में विचाराधीन वाद के सही आशय पर विचार करते हुए न्यायाधीश भगवती ने दिगम्बर राव बनाम रंगाराव (ए0 आई0 आर0 1949 बम्बई 367) इस प्रकार टिप्पणी की है :-

"पूर्व न्याय का तात्पर्य है कि जिस मामले में न्याय निर्णय हो चुका है अथवा मामले में निर्णय घोषित किया जा चुका है । पूर्व न्याय का सिद्धान्त दो उचित कारणों पर आधारित है, पहला यह कि व्यक्ति को एक ही मामले में दुबारा तंग करने की कठिनाई और दूसरा, लोकनीति, मुकदमेबाजी का समाप्त होना राज्य के हित में है, देखिये, लाकीयर बनाम फिरीमैन, 1877-2 एपसी0519। यह नियम इस सिद्धान्त पर आधारित है कि कोई ऐसा वाद हेतुक नहीं रहेगा जिससे दुबारा वाद उत्पन्न हो यह पहले वाद के निर्णय में ही अन्तर्निहित होगा । यह स्थापित तथ्य है कि प्रत्येक वाद का कोई हेतुक होता है और यदि पहले वाद में हुआ निर्णय अर्थात पहले निर्णीत मामले से वाद हेतुक शेष नहीं रहता है, निर्णय में अन्तर्विलित हो जाने के कारण, तब पहले वाद में हुए निर्णय के पश्चात वाद हेतुक कहाँ बचेगा जिससे दूसरा वाद जन्म लेगा । जब तक पहले वाद में निर्णय नहीं हो जाता है तब तक यह कहना संभव है कि वाद हेतुक है जिससे दोनों वाद उठते हैं । वाद विचाराधीन है तब दोनों पक्ष वाद हेतुक के विषय में मुकदमा लड सकते है । एक बार वाद हेतुक के न्यायालय द्वारा घोषित निर्णय में विलय हो जाने पर वाद हेतुक शेष नहीं रह जाता, तब मामले में लिया गया निर्णय पूर्व न्याय बन जाता है । वाद हेतुक जब तक शेष था अब शेष नहीं है और सक्षम न्यायालय द्वारा पहले निर्णीत वाद में ऐसा निर्णय दिये जाने के पश्चात कोई भी न्यायालय सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 11 के प्रावधानों के अन्तर्गत अथवा अन्यथा सामान्य सिद्धान्तों पर ऐसे किसी वाद पर विचारण

नहीं करेगा जहाँ विवादग्रस्त वाद हेतुक समान हो और वाद के पक्षकार भी समान हों जिन्होंने अथवा जिनमें से किसी ने भी उसी हित के लिए मुकदमा लड़ने का दावा किया हो ---- विचाराधीन वाद विचाराधीन अभियोजन है और विचाराधीन वाद के सिद्धान्त का अर्थ यह है कि अन्य संक्रान्ति वाद कालीन विचार के पश्चात वाद के निर्णय से बाध्य है। जैसा कि एल० जे० टर्नर ने बेलामी बनाम सेबाइन वाले मामले में कहा है (1857) । डी०जी० एण्ड जे (26 एल०जे० अध्याय 797 (पृष्ठ 578-584)

" यह मेरे विचार में ला तथा इक्विटी दोनों न्यायालयों के लिए सामान्य सिद्धान्त है और जहाँ तक मैं समझता हूँ इसकी आधारशिला यह है कि यदि विचाराधीन वाद के दौरान अन्य संक्रामण की अनुमति दे दी जाती है तो किसी भी अनुयोजन या मुकदमे का सफलतापूर्वक निपटारा नहीं हो सकता । वादी प्रत्येक मामले में निर्णय अथवा डिग्री से पूर्व प्रतिवादी के अन्यसंक्रामण से पराजित हो जाएगा और उसे फिर नये सिरे से कार्यवाही करने के लिए विवश होना पड़ेगा और इसी प्रकार की कार्यवाही से उसे फिर विफल होना पड़ेगा "।

प्रिवी काउन्सिल ने भी फैयाज हुसन खाँ बनाम पराग नारायण के मामले में यही सिद्धान्त अपनाया है (34 आइ॰ए॰ 102 पी॰सी॰) जहाँ उन्होंने अन्तिम न्यायनिर्णयन पर बल दिया है और यह विचार व्यक्त किया है कि अन्यथा मुकदमेबाजी का अन्त नहीं होगा और न्याय विफल हो जाएगा । विचाराधीन वाद के सिद्धान्त की स्टोरी के इक्विटी जुरिसप्रुडेंस नामक ग्रन्थ के खंड । धारा 406 में निम्नलिखित व्याख्या दी गई है :-

"सामान्यतया यह सच है कि न्यायालय की डिग्री से सम्पत्ति के हितधारी पक्षकार तथा उनके संसर्गी आबद्ध होते है । परन्तु वाद के विचाराधीन रहते जो व्यक्ति सम्पत्ति क्रय करता है वह उस डिग्री से आबद्ध हो जाता

है जो उस व्यक्ति के विरुद्ध होती है जिससे कि वह स्वामित्व प्राप्त करता है ------ जहाँ क्रय, किसी सूचना के बिना ही, वास्तविक तथा उचित है, वहाँ इस नियम का लागू होना बहुत दुर्लभ है । परन्तु यह नियम एक व्यापक लोकनीति पर आधारित है, क्योंकि अन्यथा वाद के दौरान किये गये अन्यसंक्रामण से इसका समस्त उद्देश्य ही विफल हो जायेगा और मुकदमेबाजी का अन्त ही नहीं होगा। और इस प्रकार यह सूत्र उत्पन्न हुआ कि वादकालीन विचार के दौरान कुछ भी नया नहीं किया जाएगा, इसका प्रभाव हस्तान्तरण को समाप्त करना नहीं है, अपितु इसे वाद के पक्षकारों के अधिकारों का हित साधक बनाना है । जहाँ तक इन पक्षकारों के अधिकारों का प्रश्न है हस्तान्तरण को यह समझा जाता है कि यह कभी था ही नहीं, और ना ही यह उनको परिवर्तित करता है"।

यह भी व्यवस्थापित विधि है कि जहाँ धोखाधड़ी या साँठ- गाँठ का मामला नहीं है, वहाँ विचाराधीन वाद का सिद्धान्त एकपक्षीय निर्णय या समझौते के मामले में लागू होता है । यदि समझौता निश्पक्ष और ईमानदारी से नहीं किया गया है, समझौते से निपटा वाद विचाराधीन वाद के रूप में नहीं चलेगा । विचाराधीन वाद का यही सिद्धान्त है ।

ये सिद्धान्त पर्याप्त रूप में स्पष्ट है और जहाँ पूर्वन्याय के नियम और विचाराधीन वाद के सिद्धान्त बीच विवाद है वहाँ हमें यह निश्चय करना है कि दोनों में कौन सा अभिभावी होगा । जैसा कि पहले विचार किया जा चुका है पूर्व न्याय का नियम मुकदमे की अन्तिमता की आवश्यकता पर आधारित है और इसी प्रकार विचाराधीनवाद का सिद्धान्त भी । दोनो का उद्देश्य एक ही है, पहले का यह कि उसी एक

के अधीन मुकदमा लड़ने वही पक्षकार अथवा उनके हित प्रतिनिधि, एक बार मुकदमे में निर्णय हो जाने पर अन्य मुकदमे में उसी प्रश्न को नहीं उठाया जाएगा । और दूसरा यह कि वादकालीन विचार के दौरान अन्तरण के द्वारा पक्षकार जो कुछ भी करना चाहता है, वादकालीन विचार के दौरान मुकदमे के निर्णय से अन्तर्वर्ती आबद्ध होगा । तथापि दोनो के बीच यह अन्तर है कि पूर्व न्याय का नियम एक से अधिक अनुयोजनों से संबंधित है, जबकि विचाराधीन वाद का सिद्धान्त उसी वाद से संबंधित है जिसके विचाराधीन रहते हुए अधिकार हक तथा पक्षकारों में से किसी एक के हित का अन्त्संक्रामण किया गया है । पूर्व न्याय के मामले में एक ही वाद हेतुक में एक साथ विभिन्न अनुयोजन हो सकते है परन्तु एक बार पूर्व निर्णीत वाद में उद्घोषित निर्णय में वाद हेतुक के अन्तर्वलित हो जाने पर दूसरे वाद के लिए कोई वाद हेतुक शेष नही रह जाता । तथापि विचाराधीन वाद के मामले मे वाद हेतुक बना रहता है क्योंकि इसी से वाद सतत रूप में बना हुआ है जो उससे संबंधित विभिन्न पक्षकारों के अधिकारों के न्याय निर्णयन के लिए दायर किया गया और उस वाद हेतुक से वाद के विचाराधीन बने रहने के कारण यह सिद्धान्त लागू होता है । वादकालीन विचार में चाहे जो भी अन्तरण हों उनसे पक्षकारों के बीच चल रहे मुकदमे के परिणाम पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा और वादकालीन विचार का अन्तरिती, उसके और अन्तरक के बीच जो कुछ हुआ है उस पर विचार किए बिना ही, मुकदमे के परिणाम से आबद्ध होगा । तथापि उस मामले में भी जहाँ विचाराधीन वाद का सिद्धान्त लागू होता है, एक बार निर्णय घोषित कर दिए जाने पर और वाद हेतुक निर्णय में अन्तर्वलित हो जाने पर वह निर्णय अन्तिम होगा और इससे न केवल वाद के पक्षकार आबद्ध होंगे

अपितु वादकालीन विषय के अन्तरिती भी । हस्तांतरण के लिए यह माना जाता है कि वह कभी था ही नहीं । जैसा कि स्टोरी ने अपने उपर्युक्त उद्धृत ग्रंथ में कहा है इसका प्रभाव अन्तरण को प्रभावित करना नहीं है अपितु इसे मुकदमे के पक्षकारों के अधिकारों का हित साधक बनाना है । निर्णय चाहे उसी वाद में लिया जाए अथवा किसी अन्य में और वाद हेतुक जो उस वाद का कारण बना हुआ है जिसमें विचाराधीन वाद का सिद्धान्त लागू होता है वह वाद हेतुक उसी वाद में अथवा किसी अन्य वाद में उद्घोषित निर्णय में अन्तर्वलित हुआ हो, स्थिति यही होगी कि निर्णय से पक्षकारों के अधिकार सुनिश्चित होंगे और वे तथा वादकालीन अन्तरितीयों (वादकालीन अन्तरिती भी निर्णय से आबद्ध होंगे।) को वाद के पक्षकारों की विधि सम्मत हित-प्रतिनिधि माना जाता है और जो भी निर्णय उद्घोषित होता है, चाहे उसी वाद में हो या किसी अन्य वाद में, उससे ही पक्षकारों के अधिकार सुविनिश्चित होंगे और तब कोई वाद या अनुयोजन नहीं बचेगा । यदि वाद हेतुक सक्षम न्यायालय द्वारा उद्घोषित निर्णय में अन्तर्वलित हो जाता है तो वाद के विचाराधीन बने रहने का कोई अवसर नहीं रहेगा । यदि किसी विशिष्ट वाद हेतुक का विलय हो जाता है तो उस निर्णय से पक्षकारों के अधिकार विनियमित होंगे, चाहे निर्णय उसी वाद में उद्घोषित किया गया हो जिसमें कि विचाराधीन वाद का सिद्धान्त लागू होता है अथवा किसी अन्य वाद में । यदि निर्णय उसी वाद में हुआ है, तब पूर्व न्याय के नियम लागू होने का प्रश्न ही नहीं रहता । पूर्व न्याय का नियम तभी लागू होगा जब निर्णय किसी अन्य वाद में दिया गया हो । पूर्व न्याय का नियम केवल तभी लागू होगा यदि निर्णय किसी अन्य वाद में दिया गया हो जो ऐसे वाद से पूर्वतर निर्णीत हुआ हो जिसमें कि यह सिद्धान्त लागू हुआ है। परन्तु एक बार निर्णय उद्घोषित हो जाने पर वह पक्षकारों के अधिकारों को अन्तिम रूप से सुनिश्चित करने में प्रभावी होगा और वाद हेतुक, जिससे वह

वाद बना रहा जिसमें विचाराधीन वाद का सिद्धान्त लागू हुआ, पूर्वतर निर्णीत वाद में सम्यक् रूप से उद्घोषित निर्णय में अन्तर्वलित हो जाएगा । इसलिए, हमारे विचार में, पूर्व न्याय का सिद्धान्त विचाराधीन वाद के सिद्धान्त पर अभिभावी है औ र हम इस निष्कर्ष पर पर पहुँचे है कि ऐसे वाद में जहाँ विचाराधीन वाद का सिद्धान्त लागू होता है एक बार सक्षम न्यायालय द्वारा निर्णय सम्यक् रूप से उद्घोषित कर दिए जाने पर वह निर्णय पूर्व न्याय बन जाता है और उससे न केवल पक्षकार आबद्ध होते है अपितु विचाराधीन वाद के दौरान अन्तरिती भी आबद्ध होते है।

2.10 शिमला बैंकिंग इन्डस्ट्रियल कम्पनी लिमिटेड बनाम फर्म लुड्डारमल (ए.आई.आर. 1958 पंजाब 490) मे न्यायाधीश टेकचन्द ने कहा :

" ----- विचाराधीन वाद के नियम की यह धारणा है कि विचाराधीन अनुयोजन के दौरान जो कोई भी व्यक्ति सम्पत्ति का क्रय करता है, वह उस निर्णय से आबद्ध होगा जो उस व्यक्ति के विरुद्ध होगा जिससे उसने सम्पत्ति का हक (अचल सम्पत्ति का, जिसके अधिकार का प्रश्न सीधे तथा विशिष्ट रूप से वाद अथवा चल रही कार्यवाही में विचाराधीन है) प्राप्त किया है यद्यपि ऐसा क्रेता वाद में पक्षकार नही है अथवा विचाराधीन वाद की उसके पास कोई सूचना नही है ---- सिद्धान्त का आशय विचाराधीन वाद के विषय में अन्यसंक्रामण पर न्यायालय का पूर्ण नियंत्रण विनिहित करना है और इस प्रकार न्यायालय के निर्णय से अन्यसंक्रामितियों को आबद्ध करना है, जैसाकि वे वाद के पक्षकार थे, चाहे व्यक्तिगत मामलो में परेशानी भी क्यों न हो ------" ।

2.11 इस विषय पर विभिन्न न्यायालयो के उपर्युक्त निर्णयों की व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि विचाराधीन वाद का सिद्धान्त, जैसा कि पीछे बेलामी के मामले में एल.जे. टर्नर ने कहा है, लॉ तथा इक्विटी दोनों ही न्यायालयों के लिए एक सामान्य सिद्धान्त है जो समीचीनता के विचार से आदेश देता है कि एक बार वाद या कार्यवाही

दायर कर दिये जाने पर उसका विधिसम्मत निपटारा हो जाना चाहिए । यदि वादकालीन अन्यसंक्रामण अनुमत्य रहा तो इस उद्देश्य को प्राप्त करना असंभव हो जायगा। क्योंकि यह सिद्धान्त समीचीनता अर्थात न्याय निर्णयन की आवश्यकता पर आधारित है और यदि वादकालीन अन्यसंक्रामण की अनुमति दी जायगी तो न्याय व्यवस्था के लिए इसके परिणाम निराशाजनक होंगे । इस प्रकार यह सिद्धान्त इक्विटी, अन्तर्आत्मा और न्याय के सिद्धान्त के अनुसार है जैसाकि केरल उच्च न्यायालय ने गोविन्दा पिल्लै के मामले में बताया है कि क्योंकि यह सिद्धान्त साम्यापूर्ण तथा न्यायोचित आधारशिला पर आधारित है, इसलिए यह विधि के बिना भी लागू होगा । क्योंकि यह सिद्धान्त अत्यन्त सुसंगत है और न्याय व्यवस्था के लिए आवश्यक है, इसे पूर्णतया अभिमुक्त करना बहुत कठिन है । इस पर भी, हमारा विचार यह है कि वाद अथवा कार्यवाही की सूचना के पंजीकरण जैसी कतिपय शर्तें सिद्धान्त के लागू होने के लिए पूर्वापेक्षा के रूप में निर्धारित कर दी जाती है तो यह विचाराधीन वाद के सिद्धान्त की मूल भावना के विपरीत नहीं जायगा । हम इस पहलू पर आगामी अध्याय तीन में विचार करेंगे ।

अध्याय - दो

वाद टिप्पण

1. एडमिनिस्ट्रेटिव लॉ (सातवाँ संस्करण) लेखक, एच॰डब्यू॰ आर॰ वाडे तथा फारसेथ, पृष्ट 579
2. गोविन्दा पिल्लै बनाम अय्यपन कृष्णन, ए॰आई॰आर॰ 1957 केरल 10, पैरा 7
3. बेलामी बनाम सेबाइन (1857) 1 डी॰ एण्ड जे॰ 566 (ए)
4. ए॰ आई॰ आर॰ 1973 सैक्शन 569, पैरा 47
5. ए॰ आई॰ आर॰ 1973 सेक्शन 2537, (1974) 1 एस॰एल॰ आर॰ 381
6. 1857 (डी॰ जी॰ एण्ड जे॰ 566 (अ)
7. 34 लॉ रिपोर्टस (इन्डियन अपील) पृष्ट 102
8. जाहर लाल भूडा बनाम भूपेन्द्रनाथ (1922) 49 कलकत्ता 495, 67 आई॰ सी॰ 108, (1922) ए सी 412
9. गोविन्दा पिल्लै बनाम अय्यपन कृष्णन, ए॰ आई॰ आर 1957 केरल 10 पृष्ट 11

अध्याय - तीन

धारा 52 : सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम 1882 तथा उसके संशोधन

3.1 किसी वाद अथवा कार्यवाही के विचाराधीन रहने के दौरान स्थावर सम्पत्ति के अन्तरण के प्रभाव की चर्चा करते हुए सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 52 मूलत: निम्नलिखित रूप में अधिनियमित की गई थी ।

> " ब्रिटिश कालीन भारत में प्राधिकारवान या गवर्नर जनरल-इन कौंसिल द्वारा ब्रिटिश कालीन भारत की सीमाओं के परे स्थापित किसी न्यायालय में किसी ऐसे प्रतीतिरोधात्मक वाद या कार्यवाही के सक्रिय अभियोजन में रहते हुए, जिसमें स्थावर सम्पत्ति का कोई अधिकार उस वाद या कार्यवाही के किसी भी पक्षकार द्वारा उस न्यायालय के प्राधिकार के अधीन और ऐसे निबन्धनों के साथ, जैसे वह अधिरोपित करे, इस प्रकार अन्तरित या व्ययनित नहीं की जा सकती कि उसके किसी अन्य पक्षकार के किसी डिक्री या आदेश के अधीन, जो उसमें दिया जाए, अधिकारों पर प्रभाव पड़े"

3.2 इस धारा में "सक्रिय अभियोजन" के स्थान पर "लम्बित और किसी प्रतीतिरोधात्मक वाद अथवा कार्यवाही" के स्थान पर "जो दुसंधिपूर्ण न हो" शब्द प्रतिस्थापित करके तथा इसके नीचे एक स्पष्टीकरण जोड़कर, जिसमें इस धारा के प्रयोजनों से किसी वाद के लम्बित रहने के लिए समय सीमा निर्धारित की गई है, वर्ष 1929 के अधिनियम द्वारा इस धारा का संशोधन किया गया है। संशोधित धारा इस प्रकार है :

> " जम्मू- कश्मीर राज्य को छोड़कर भारत की सीमाओं के अन्दर प्राधिकारवान या केन्द्रीय सरकार द्वारा ऐसी सीमाओं के परे स्थापित किसी न्यायालय में ऐसे वाद या कार्यवाही के लम्बित

रहते हुए, जो दुस्सन्धिपूर्ण न हो और जिसमें स्थावर सम्पत्ति का कोई अधिकार प्रत्यक्षत: या विनिर्दिष्टत: प्रश्नगत हो, वह सम्पत्ति उस वाद या कार्यवाही के किसी भी पक्षकार द्वारा उस न्यायालय के प्राधिकार के अधीन और ऐसे निबन्धनों के साथ जैसे वह अधिरोपित करे, इस प्रकार अन्तरित या अन्यथा व्ययनित नहीं की जा सकती कि उसके किसी अन्य पक्षकार के किसी डिक्री या आदेश के अधीन, जो उसमें दिया जाए, अधिकारों पर प्रभाव पड़े"।

स्पष्टीकरण :

किसी वाद या कार्यवाही का लम्बन इस धारा के प्रयोजन के लिए उस तारीख से प्रारम्भ हुआ समझा जाएगा जिस तारीख को सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय में वह वाद पत्र प्रस्तुत किया गया या वह कार्यवाही संस्थित की गई और तब तक चलता हुआ समझा जाएगा जब तक उस वाद या कार्यवाही का निपटारा अन्तिम डिक्री या आदेश द्वारा न हो गया हो और ऐसी डिक्री या आदेश की पूरी तुष्टि या उन्मोचन अभिप्राप्त न कर लिया गया हो या तत्समय प्रवृत्त विधि द्वारा उसके निष्पादन के लिए विहित किसी अवधि के अवसान के कारण वह अनभिप्राप्य न हो गया हो"।

3•3 धारा 52 की व्याप्ति का विश्लेषण

धारा 52 का विश्लेषण करके, इसके महत्वपूर्ण घटकों को नोट किया जा सकता है, जो इस प्रकार है:-

(क) वाद अथवा कार्यवाही ऐसी होनी चाहिए जिसमें "स्थावर सम्पत्ति का कोई अधिकार प्रत्यक्षत: और विनिर्दिष्टत: प्रश्नगत हो" (धारा जंगम सम्पत्ति से संबंधित वादों के मामले में लागू नही

होती है)।

(ख) वाद अथवा कार्यवाही किसी निम्नलिखित न्यायालय में लम्बित होनी चाहिए :-

(एक) भारत के भीतर प्राधिकार प्राप्त कोई न्यायालय अथवा

(दो) केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित भारत से बाहर कोई न्यायालय (यह विदेशी क्षेत्राधिकार के संबंध में विधान बनाने संबंधी संसद की शक्ति के अनुपालन में अधिनियमित विधान के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार द्वारा जारी किए गए सांविधिक आदेश के अन्तर्गत स्थापित न्यायालय होगा) ।

(ग) वाद अथवा कार्यवाही दुरभिसंधिपूर्ण नहीं होनी चाहिए । न्यायिक कार्यवाही में दुरभिसंधि दो व्यक्तियों के बीच एक गोपनीय व्यवस्था होती है कि एक व्यक्ति किसी अशुभ प्रयोजन हेतु किसी न्यायिक अधिकरण का निर्णय प्राप्त करने की दृष्टि से दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध वाद संस्थित करे । (व्हार्टन्स लॉ लैक्सिकन, चौदहवां संस्करण, पृष्ठ 212)। इस प्रकार की कार्यवाही में किया गया दावा बनावटी होता है, इसके ऊपर प्रतिवाद अवास्तविक होता है और इसमें पास की गई डिक्री केवल एक नकाब (मास्क) होता है जो एक न्यायिक अवधारणा का प्रतिरूप लिए हुए होता है और तीसरे पक्षकारों को हराने के उद्देश्य से पक्षकारों द्वारा पहना जाता है।

यदि ये शर्तें पूरी हो जाती है तो इसका प्रभाव यह होगा कि वाद अथवा कार्यवाही का कोई पक्षकार न्यायालय के प्राधिकार और न्यायालय द्वारा लगाई गई शर्तों के सिवाय सम्पत्ति को अन्तरित अथवा अन्यथा व्ययनित नहीं कर सकता जिससे कि उसका किसी अन्य पक्षकार के अधिकारों पर प्रभाव पड़े ।

सिद्धान्ततः, वाद का प्रत्येक पक्षकार धारा 52 के निर्बंधनात्मक प्रभाव के अध्यधीन होता है। तथापि, व्यवहार में, अंतरक वह पक्षकार ही होता है वाद में जिस-के विरुद्ध राहत का दावा किया जाता है।

वाद अथवा कार्यवाहियों के लम्बन की पूरी अवधि के दौरान अन्तरणों पर धारा 52 लागू होती है । तब प्रश्न यह उठता है कि इस धारा के प्रयोजनार्थ किसी वाद अथवा कार्यवाही को कितनी अवधि तक लम्बित माना जा सकता है । इस प्रश्न का काफी हद तक उत्तर स्पष्टीकरण द्वारा, अब 1929 के संशोधन अधिनियम 20 को जोड़कर दिया जाता है और स्पष्टीकरण में निर्धारित सिद्धान्त को न्याय के नियम, निष्पक्षता और सद्भावना के रूप में लागू किया गया है। धारा 52 के अन्तर्गत स्पष्टीकरण में यह उल्लेख है कि किसी वाद या कार्यवाही का लम्बन इस धारा के प्रयोजनों के लिए उस तारीख से प्रारम्भ हुआ समझा जायेगा जिस तारीख को सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय में वह वादपत्र प्रस्तुत किया गया या वह कार्यवाही संस्थित की गई और उसे तब तक चलता हुआ समझा जायगा जब तक उस वाद या कार्यवाही का निपटारा अंतिम डिक्री या आदेश द्वारा न हो गया हो और ऐसी डिक्री या आदेश को पूरी धुष्टि का उन्मोचन अभिप्राप्त न कर लिया गया हो या तत्समय प्रवृत्त-विधि द्वारा उसके निष्पादन के लिए विहित किसी अवधि के अवसान के कारण वह अनभिप्राप्त न हो गया हो । इससे यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि अपीलें और निष्पादन कार्यवाहियाँ भी इस धारा के आशय के अन्तर्गत वाद अथवा कार्यवाही को लम्बित रखती है और तदनुसार अपील अथवा निष्पादन के दौरान भी विचाराधीन वादों को लम्बित ही माना जाता है।

3.5 अधिनियम की धारा 52 के वास्तविक आशय और उसकी व्याप्ति पर विचार करते हुए उच्चतम न्यायालय ने जयराम मुदलियार बनाम अय्यास्वामी[2] मामले में यह टिप्पणी की थी:

> " यह सुस्पष्ट है कि सिद्धान्त जैसा कि धारा 52 में बताया गया है , न केवल अधिकार के वास्तविक अन्तरणों, जो कि मुकदमें की विषय-वस्तु होते है, पर लागू होता है बल्कि वाद अथवा कार्यवाही के किसी अन्य पक्षकार द्वारा इसके संबंध में अन्य

व्यवहारों पर भी लागू होता है जिससे कि उसका किसी अन्य पक्षकार के अधिकार पर प्रभाव पड़े" । इसलिए यह आग्रह किया जा सकता है कि जहाँ मुकदमे का कोई पक्षकार न हो बल्कि कोई बाह्य अभिकरण, जैसे कि सरकार के कर संग्राहक प्राधिकरण, हो जो, मुकदमे से संबंधित पक्षकार द्वारा कुछ भी किए बिना, मुकदमे की विषय वस्तु के विरुद्ध कार्यवाही करता है, तो परिणामी संव्यवहार धारा 52 से प्रभावित नहीं होगा। इसी प्रकार, जहाँ सभी पक्षकार जो लम्बित मुकदमे से प्रभावित हो सकते हैं सम्पत्ति के इस प्रकार के अन्तरण अथवा व्यवहार में स्वयं पक्षकार हों कि वे मुकदमे की सुनवाई कर रहे न्यायालय के समक्ष प्रतिवादित संव्यवहार से पीछे न हट सकते हों अथवा उसका परित्याग न कर सकते हों, तो न्यायालय उन्हें उनके कृत्यों के लिए बाध्य कर सकता है। ये सभी ऐसे मामले हैं जिन पर न्यायालय उचित रूप से विचार कर सकता है। सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 का प्रयोजन किसी उचित और न्यायसंगत दावे को विफल करना नहीं है बल्कि उन्हें सम्बन्धित उस न्यायालय के प्राधिकार के अधीन लाना है जो उस/सम्पत्ति के मामले की सुनवाई कर रहा हो जिसके संबंध में दावे पेश किए गए हैं।

3.6 यदि कोई व्यक्ति अन्तरण के द्वारा अथवा अन्यथा वादकालीन सम्पत्ति अर्जित करता है, तो वह डिक्री द्वारा बाध्य होगा जो अन्ततः अधिप्राप्ति के समय लम्बित कार्यवाहियों में प्राप्त की जा सकती है। इससे यह तर्क दे कर नहीं बचा जा सकता कि सम्पत्ति की पहले कुर्की की जा चुकी है। इसे उच्चतम न्यायालय द्वारा केदारनाथ बनाम शिवनारायण [3] मामले में निम्नलिखित टिप्पणी करते हुए स्पष्ट किया गया था :

"सम्पत्ति की कुर्की केवल निवारक अन्यसंक्रामण में ही प्रभावी होती है किन्तु यह सम्पत्ति पर कोई हक त्वरित करने के इरादे से नहीं की जाती है। दूसरी ओर, धारा 52 स्थावर सम्पत्ति के उस अधिकार के अन्तरण पर पूर्ण रोक लगाती है जो किसी

लम्बित मुकदमे में प्रत्यक्षत: और विनिर्दिष्टत: प्रश्नगत हो । अत: कुर्की, सिद्धान्त के विरुद्ध निष्प्रभावी थी। इस स्पष्ट स्थिति के लिए प्राधिकार नितान्त आवश्यक है किन्तु यदि इसकी आवश्यकता होती है तो यह मोती लाल बनाम कराब-उल-दीन (1987) 24 इन्ड रेप 170 (पी सी) में देखा जा सकता है।"

3.7 सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 के अन्तर्गत विचाराधीन वाद के सिद्धान्त के अतिरिक्त, याचिका क्रेता को कोई साक्ष्य प्रस्तुत करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह प्रतिवादी के पद चिन्हों पर चलता है जिसने साक्ष्य प्रस्तुत करने के अधिकार का परित्याग कर दिया है। (धन्ना सिंह बनाम बलजिन्दर कौर (1997) 3 "स्केल" 747 पृ0 748) प्रतिवादियों अथवा पक्षकार को धारा 52 के प्रवर्तन द्वारा न्यायालय के आदेश अथवा प्राधिकार के सिवाय सम्पत्ति को व्ययनित या अन्तरित या किसी अन्य पक्षकार के अधिकारों को प्रभावित करने वाला अन्यथा व्यवहार करने से प्रतिबद्ध किया जाता है। वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन के दौरान किया गया अन्यसंक्रामण धारा 52 के प्रवर्तन द्वारा विचाराधीन वाद के सिद्धान्त से स्पष्टरूप से प्रभावित होगा। (सरविन्दर सिंह बनाम दलीप सिंह 1996(6) "स्केल"59,पैरा 6)

3.8 विचाराधीन वाद के सिद्धान्त का प्रभाव अन्तरण को निष्प्रभावी नहीं करता है बल्कि यह मुकदमे के पक्षकारों के हितों को अधीनस्थ करता है। दूसरे शब्दो में, वस्तुत: धारा 52 का प्रवर्तन वादकालीन अन्तरण का प्रतिकार नहीं करता बल्कि वह केवल इसे वाद की डिक्री पर आधारित पक्षकारों के अधीनस्थ बनाता है। चूंकि अन्तरण से संबंधित पक्षकारों, अर्थात अन्तरक और अन्तरिती के बीच हक का अन्तरण पूरी तरह विधिमान्य होता है और यह अन्तरक के हक को अन्तरिती में निहित करने के लिए प्रवर्तित किया जाता है "तथापि उससे किसी अन्य पक्षकार के किसी डिक्री या आदेश के अधीन, जो उसमें दिया जाए, अधिकारों पर प्रभाव पड़े।" शब्दो से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि कुछ सीमा तक इस अपवाद को छोड़कर कि इससे डिक्री अथवा आदेश के

अर्न्तगत डिक्री किए गए अधिकारों के संबंध मे विवाद हो सकता है, अन्तरण उचित है । देखिए टी भूवनारायण सिंह बनाम नवाब सिंह, ए० आई० आर० 1957 पटना 729, पृ० 731] किसी वाद के पक्षकार द्वारा वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन के दौरान किया गया कोई अन्तरण अथवा कोई व्यवहार स्वत: शून्य नही हो जाता है। केवल इसी से किसी डिक्री अथवा आदेश के अधीन जो वाद अथवा कार्यवाही में किए जाए, वाद के किसी अन्य पक्षकार के अधिकारों को प्रभावित नही किया जात सकता है।[4]

3·9 इस प्रकार धारा 52 के प्रभाव का आधार वादकालीन विक्रय का प्रतिकार करना नही है, बल्कि इसे वाद मे की गई डिक्री पर आधारित अधिकारों के अधीनस्थ करना है तथापि , संव्यवहार के पक्षकारो के बीच यह पूरी तरह विधिमान्य होता है और अन्तरक के हक को अंतरिती में निहित करने के लिए प्रवर्तित किया जाता है। वादकालीन विक्रय के संबंध में सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 के वास्तविक प्रभाव पर विचार और उसका विश्लेषण करते हुए, उच्चतम न्यायालय ने नागूबाई बनाम बी० शर्मा राव [5] मामले में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला :-

> "[24]3· अन्त में यह प्रतिवरोध किया गया कि 1919-20 के ओ० एस० सं० 100 में डिक्री के निष्पादन में देवम्मा द्वारा की गई खरीद शून्य थी और उसे कोई हक प्रदान नही किया गया क्योंकि सरकारी रिसीवर जिसमें केशवानन्द, बंधकर्ता, की संपदा 19-2-1926 को उसके न्यायनिर्णीत दिवालिया होने पर निहित की गई थी, को उक्त कार्यवाहियों के लिए पक्षकार नही बनाया गया था और यह कि, परिणाम स्वरूप दिनांक 31-1-1920 के विक्रय विलेख के अन्तर्गत बी० नन्जुन्दा राव और उसके उत्तराधिकारियों का हक 2-8-1928 को न्यायालय द्वारा नीलामी डिक्री किये जाने के बावजूद अस्तित्व में बना रहेगा। विवाद का स्पष्ट उत्तर यह है कि 2-8-1928 को बेची गई सम्पत्तियां 19-2-1926 को दिवालिया होने का आदेश किए जाने पर सरकारी रिसीवर में निहित नही हुई क्योंकि वे बंधक कर्त्ता द्वारा दिनांक 30-1-1920 के विक्रय विलेख, जो अपीलार्थीओं के हक का मूल आधार होते है, के अन्तर्गत 1925-26 का दिवाला विषयक मामला सं० 4 के प्रस्तुत

किए जाने से काफी समय पहले अन्तरित की गई थी। निस्संदेह वह डिक्री वादकालीन थी किन्तु धारा 52 के प्रभाव का आशय इसका पूर्णतया प्रतिकार करना नहीं है बल्कि इसे वाद में की गई डिक्री पर आधारित अधिकारों के अधीनस्थ करना है।

परन्तु संव्यवहार के पक्षकारों के बीच यह पूर्णतः विधिमान्य थी और इसे अन्तरक के हक को अंतरिती में निहित करने के लिए प्रवर्तित किया गया। दिवालिया अधिनियम की धारा 28(2) के अन्तर्गत, सरकारी रिसीवर में दिवालिया की केवल सम्पत्ति निहित होती है और चूंकि दिनांक 30-1-1920 के विक्रय विलेख के कारण वादग्रस्त सम्पत्तियां उसकी नहीं रही थी इसलिए वे सरकारी रिसीवर में निहित नहीं हुईं, और 2-8-1928 को हुई बिक्री को इस आधार पर वर्क नहीं किया जा सकता कि वह इसका पक्षकार नहीं बना था।

(25) किन्तु अपीलकर्ताओं के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि धारा 52 में उल्लिखित इन शब्दों को ध्यान में रखते हुए कि वादकालीन सम्पत्ति अंतरित नहीं की जा सकती, इस प्रकार के अन्तरण को, जब यह उक्त धारा की रिष्टि के अन्तर्गत आ जाता है, नास्ति अभिवाक् समझा ही जाना चाहिए, यह कि इसके परिणामस्वरूप केशवानन्द को, विचाराधीन वाद के प्रयोजनों हेतु सम्पत्तियों का स्वामी माना ही जाना चाहिए, इसके बावजूद कि उसने उन्हें अन्तरित कर दिया है और यह कि सरकारी आदाता को जो उसके अधिकारों का उत्तराधिकारी बना है, कार्यवाही में पक्षकार बनने का अधिकार है।

यह प्रतिविरोध कि उसके किसी अन्य पक्षकार के किसी डिक्री अथवा आदेश के अधीन जो उसमें दिया जाए, अधिकारों पर प्रभाव पड़े" शब्दों के प्रभाव को रोकता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि इस बात को छोड़कर कि इससे डिक्री अथवा आदेश के अन्तर्गत डिक्री किए गए अधिकारों के संबंध में विवाद हो सकता है, अन्तरण ठीक है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए वादकालीन

अन्तरण को विधिमान्य ठहराया गया है और इसके पक्षकारों के बीच प्रवृत्त समझा गया है।

यह मानना असंगत होगा कि दिनांक 30-1-1920 का विक्रय विलेख डा0 नन्दुन्दा राव को सम्पत्तियों का हक देने के लिए प्रभावी है और यह कि इसके साथ ही यह माना जाना चाहिए कि यह हक केशवानन्द के पास है। अतः, हम अपीलकर्त्ताओं के इस प्रतिवरोध को स्वीकार नहीं कर सकते कि धारा 52 के प्रयोजनों हेतु किसी अनिर्णीत अन्तरण को, सम्पत्ति पर हक बरकरार माना जाए।

3.10 यह कहा जा सकता है कि इस धारा में अधिनियमित नियम/सिद्धान्त पूर्व-न्यायके नियम का विस्तार करने के लिए है और वाद में न्यायनिर्णयन को वाद के लम्बन के दौरान पक्षकारों के संक्रामणग्रहियों पर उसी प्रकार बाध्यकारी होते है जिस प्रकार न्याय-निर्णयन के लिए पूर्व-न्याय के सिद्धान्त बाध्यकारी होते हैं और ये न केवल स्वयं पक्षकारों के संबंध में लागू होत है बल्कि डिक्री के पश्चात उनके संक्रामणग्रहियों पर भी लागू होते हैं। यह प्रेक्षा के विचाराधीन वाद को न केवल इसलिए प्रभावित करता है कि यह एक प्रकार का लीटिस होता है बल्कि इसलिए भी क्योंकि कानून मुकदमे के किसी पक्षकार को मुकदमे के अधिकारों को लम्बित रखते हुए, विवादित सम्पत्ति किसी अन्य व्यक्ति को सौंपने की इजाजत नहीं देता जिससे विरोधी पक्षकार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े। यदि ऐसा नहीं होता तो इस बात की कोई निश्चितता नहीं होगी कि मुकदमे का कभी अन्त हो पाएगा। सामान्यतः, डिक्री केवल वाद के पक्षकारों के लिए बाध्यकारी होती है, किन्तु वह जो वाद के लम्बन के दौरान खरीदता है, उस डिक्री द्वारा बाध्य होता है जो उस व्यक्ति के विरुद्ध की जाए जिससे उसने यह हक प्राप्त किया है। मुकदमे के पक्षकारों को इस प्रकार अर्जित हक की कोई सूचना प्राप्त किए जाने की आवश्यकता से छूट दी जाती है। क्योंकि उनके लिए यह ऐसा होता है कि ऐसा कोई हक था ही नहीं। अन्यथा, वादों का अवधारण ही नहीं हो पाएगा या वही स्थिति जारी रहेगी यह एक पक्षकार पर निर्भर करेगा कि वाद का अवधारण कितने समय में हो।

3.11 मूलाधार:- धारा 52 के मूल मे निहित तर्क काफी सरल और सुबोधगम्य है। यदि किसी पक्षकार को जिसके विरुद्ध राहत का दावा किया गया हो, उसने विचाराधीन वाद के अधिकार को अन्तरित करने दिया गया तो वादी को अप्रत्यक्ष अन्तरिती को मुकदमे का एक पक्षकार बनाने के लिए बाध्य किया जाएगा । यदि पहला अन्तरिती अपना निजी अधिकार अन्तरित करने के लिए स्वयं को स्वतन्त्र भी करले तब भी (ऐसा अन्तरण होने पर) वाद को दूसरे अन्तरिती को पक्षकार बनाने के लिए अप्रत्यक्षत: बाध्य किया जाएगा। इस प्रकार प्रक्रिया अन्तहीन हो सकती है और इसलिए जब तक विधि द्वारा अन्तरण के अधिकार पर कुछ प्रतिबन्ध नही लगाया जाएगा तब तक वादी को अत्याधिक कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

धारा 52 में ठीक इसी उद्देश्य को ध्यान में रखा गया है, तभी यह कानून बना कि अन्तरण अथवा अन्य व्यवहार से वाद में पारित की जाने वाली किसी डिक्री या आदेश के अधीन उसके किसी अन्य पक्षकार के अधिकार प्रभावित नही होगे (न्यायालय के प्राधिकार के सिवाय)। इस प्रकार, प्रवर्तित धारा सांपत्तिक अधिकारो को रोकती है क्योकि वे ऐसे समय पर सामने आते है जब वाद संस्थित हो जाता है। पश्चातवर्ती कोई भी संव्यवहार उस स्थिती में परिवर्तन नही ला सकता जो वाद शुरू होने के समय विद्यमान थी। कानून पश्चातवर्ती अन्तरणों के *अविद्यिमान्य कार्यवाहियों के* विरुद्ध उक्त अधिकारों की रक्षा करते हुए, पक्षकार के अधिकारो के रक्षा कवच के रूप में कार्य करता है। यह भी ध्यान दिलाया जाता है कि धारा अन्तरण को पूरी तरह अमान्य नही ठहराती है। यह केवल किसी अन्य पक्षकार के अधिकार को प्रभावित करने वाले अन्तरण को रोकती है।[5] दूसरे शब्दो में यह अन्तरण संबंधी विचाराधीन वाद के संबंध में अपनी निजी प्राथमिकता योजना, उच्चतर और निम्नतर अधिकारों का अपना निजी मापदंड लागू करती है।

मूल सिद्धान्त यह है कि जब किसी वादी को निर्णय प्राप्त हो जाता है तो वह इसका हकदार हो जाता है कि उसे किसी ठोस कारण के बिना, इससे वंचित न किया जाए। इंटरेस्ट रे पीब्लके उट सिट फिनिस लिटिअम[7] (जनहित की मांग है कि मुकदमा निपटया जाए) ।

3.12 धारा का उद्देश्य और प्रयोजन :- जैसी कि उच्चतम न्यायालय द्वारा जयराम के मामले [8] में टिप्पणी की गई थी, "सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 का प्रयोजन किसी उचित और सात्विक दावे को विफल करना नहीं है बल्कि उसे सम्पत्ति के मामले की सुनवाई करने वाले न्यायालय, जिसमे दावे पेश किए जाते है, के प्राधिकार के अधीन लाना है।" विचाराधीन वाद के सिद्धान्त का अभिप्राय किसी मुकदमे के पक्षकारों द्वारा उस न्यायालय के क्षेत्राधिकार को रोकने के प्रयासों पर प्रहार करना है, जिसमें गैर सरकारी संव्यवहार द्वारा स्थावर सम्पत्ति के अधिकारो अथवा उसमें हितों से संबंधित विवाद लम्बित हो जो लम्बित विवाद का विनिश्चय करने अथवा उसकी डिक्री को विफल करने के लिए मुकदमे की विषय वस्तु को न्यायालय के शक्ति क्षेत्र से हटा सकता है। किसी स्थावर सम्पत्ति को, उस पर मुकदमे के दौरान, अर्जित करने वाले संक्रामणग्राही वाद मे पारित डिक्री द्वारा सिद्धान्त के प्रवर्तन द्वारा आबद्ध किए जाते है भले ही उन्हे उसमें अभियोजित न किया गया हो। विचाराधीन विवाद के सिद्धान्त का मूल उद्देश्य मुकदमे के पक्षकारो तथा अन्य व्यक्तियो, जो स्थावर सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त करने की मांग करते हैं, जो मुकदमे की विषय वस्तु है, न्यायालय की शक्ति तथा क्षेत्राधिकार के अधीन लाना है ताकि पराजित पक्षकार [9] की ओर से कार्यवाई लम्बित रखने के उद्देश्य को रोका जा सके ।

धारा 52 का आशय किसी वाद के पक्षकारो के समस्त व्युत्पन्न हितों अथवा उनसे उत्पन्न सभी हितों को अभिगर्हीत अन्तरण के रूप में वाद में पारित डिक्री द्वारा घोषित करना है कि वे डिक्रीधारक द्वारा अधिकारों के अधीनस्थ करना तथा यह घोषित अर्जित अधिकारों के विरुद्ध प्रवृत्त नही किए जा सकेंगे। अतः ऐसी परिस्थिति में कोई अन्तरिती उस डिक्री के परिणामों को प्राप्त करता है जो वाद में पक्षकार के रूप में उस पक्षकार को प्राप्त होती है जिसने उसे सम्पत्ति अन्तरित की थी। धारा 52 में विचाराधीन वाद को सिद्धान्त को लोक नीति के सिद्धान्त के रूप में सम्मिलित किया है, इसलिए सद्भाव का कोई प्रश्न उत्पन्न नही होता । ऐसी स्थिति होने से, वाद के पक्षकारो में से

कोई अन्तरिती, वाद में पारित डिक्री के अधीन दूसरे पक्षकार द्वारा अर्जित अधिकारों और हितों के प्रतिकूल किसी हक अथवा हित का दावा नहीं कर सकता। विचारधीन वाद का सिद्धान्त अन्तरिती द्वारा, डिक्री द्वारा घोषित हित के प्रतिकूल आचरण के रूप में किए जाने वाले कार्य को रोकता है ।

3.13 निष्कर्ष :- जैसा कि पहले बताया गया है, अन्तरक और अन्तरिती के बीच, बिक्री अथवा अन्यथा हक का अन्तरण विधिमान्य हो सकता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसा अन्तरण किसी अन्य पक्षकार के उन अधिकारों को प्रभावित नहीं कर सकता जो किसी डिक्री अथवा आदेश के अन्तर्गत न्यायालय द्वारा डिक्री किए जाएं। परिणामस्वरूप ऐसे संव्यवहारों में अन्तरिती का हित निश्चितरूप से प्रभावित होता है। जैसा कि पहले बताया गया है , सद्भावपूर्ण क्रेता अथवा सद्भाव में क्रय करने वाले क्रेता को भी अधिनियम की धारा 52 के उपबंधों से नहीं बचाया जाता है। यह एक आम धारणा है कि यदि ऐसे व्यक्तियों को पक्षकारों के बीच वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन के बारे में एक प्रकार का नोटिस दे दिया जाए, तो अधिकांश व्यक्ति सम्पत्ति नहीं खरीदेंगे । अतः इस बात की निश्चित रूप से आवश्यकता है कि जनता की सुविधा के बीच उचित संतुलन बनाए रखा जाए जिसका आशय वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन के दौरान हक के अन्तरण और उन व्यक्तियों के हितों को वर्जित करना है जो विवादित सम्पत्ति को सद्भाव में खरीदते हैं और सद्भावपूर्वक कार्य करते हैं।

यह सुस्पष्ट है कि सिद्धान्त, जैसा कि धारा 52 में बताया गया है, न केवल अधिकार के वास्तविक अन्तरणों जो कि मुकदमे की विषय वस्तु होते हैं पर लागू होता है बल्कि वाद या कार्यवाही के किसी पक्षकार द्वारा इससे संबंधित अन्य व्यवहारों पर भी लागू होता है जिससे कि उसके किसी अन्य पक्षकार के अधिकार पर प्रभाव पड़े"। इसलिए, यह आग्रह किया जा सकता है कि जहाँ मुकदमे का कोई पक्षकार न हो बल्कि कोई वाह्य अभिकरण, जैसे कि सरकार के कर संग्रहक प्राधिकरण, हो जो

मुकदमे से संबंधित पक्षकार द्वारा कुछ भी किए बिना, मुकदमे की विषय वस्तु के विरुद्ध कार्यवाही करता है, तो परिणामी संव्यवहार धारा 52 से प्रभावित नहीं होगा। इसी प्रकार जहाँ सभी पक्षकार जो लम्बित मुकदमे से प्रभावित हो सकते है, सम्पत्ति के इस प्रकार के अन्तरण अथवा व्यवहार में स्वयं पक्षकार हो कि वे मुकदमे की सुनवाई कर रहे न्यायालय के समक्ष प्रतिवादित संव्यवहार से छुटकारा प्राप्त अथवा उसका परित्याग न कर सकते है तो न्यायालय उन्हे उनके कृत्यो के लिए बाध्य कर सकता है। ये सभी ऐसे मामले है जिन पर उचित रूप से विचार किए जाने की आवश्यकता है।

सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 में सन्निहित विचाराधीन वाद का सिद्धान्त वर्तमान में वहाँ भी आकर्षण का विषय बना है जहाँ अन्तरिती को वाद अथवा कार्यवही का कोई पूर्व ज्ञान नही होता है। दूसरे शब्दो में, वर्तमान में सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 के अधीन विचारधीन वाद के सिद्धान्त की प्रवृत्तनीयता के संबंध में यह तत्वहीन है कि क्या वादकालीन संक्रामणग्राही ने लम्बित कार्यवाही की ओर ध्यान दिया था अथवा नही दिया था। सदभावना या सदभावनापूर्वक का कोई भी प्रश्न प्रासंगिक नही है। (मोहम्मद अली अब्दुल चानीमोमिन बनाम बिसाहेमी कोम अब्दुल्ला, (1973) ए0 आई0आर0 131) निस्संदेह: गुजरात और महाराष्ट्र में ऐसा कोई मामला नही हुआ जहाँ, बम्बई संशोधन अधिनियम को ध्यान में रखते हुए, यदि वाद को विधिवत रजिस्ट्रीकृत कर लिया जाता है, तो विचाराधीन वाद का सिद्धान्त केवल वादकालीन संव्यवहारों को प्रभावित करता है।

3.14 <u>धारा 52 में संशोधन की आवश्यकता :- विचारधीन वाद के</u> सिद्धान्त के इस प्रशंसनीय उद्देश्य (धारा 52 के मूल में निहित) के बावजूद धारा 52 में जिस सुस्पष्ट तरीके से इसकी अभिव्यक्ति की गई है उससे कतिपय कठिनाईयाँ उत्पन्न हो रही है। व्यवहारिक तौर पर वादकालीन अन्तरणों को प्रतिषिद्ध करने से धारा में, यदि कोई ऐसा कहे, विवादित सम्पत्ति के भावी क्रेताओं के हितो को नजरअंदाज किया गया है।

3.15 <u>व्यवहारिक अनुभव :-</u> अनुभव से पता लगता है कि प्राय: प्रतिवादी वादग्रस्त सम्पत्ति तीसरे पक्षकार को, उन्हे वाद के लम्बन की

जानकारी दिए बिना, आन्तरित कर देते है। क्रेताओ के लिए ऐसा कोई उचित और सुविधाजनक साधन उपलब्ध नही होता कि वे जो सम्पत्ति खरीद रहे है उसके संबंध में किसी वाद के लम्बन का पता लगा सकें । न्यायालयों के रजिस्ट्रारो को खोजना व्यावहारिक स्तर पर संभव नही है, विशेषरूप से बड़े नगरो और शहरो में जहाँ अनेक न्यायालय होते है और वहाँ हजारो की संख्या में वाद चल रहे होते है और वह भी ऐसी स्थिति में जहाँ वादों की अनुक्रमिका (इंडेक्स) तैयार करने की कोई व्यापक प्रणाली नही है। ऐसी स्थिति में वे सम्पत्ति खरीद लेते है और काफी समय के बाद उन्हे पता लगता है कि सम्पत्ति प्रत्यक्षत: और विनिर्दिष्टत: किसी वाद में प्रश्नगत थी और इसलिए खरीद उक्त वाद में पारित डिक्री अथवा आदेश के अध्यधीन है। अनेक मामलो में वे धारा 52 में अन्तर्विष्ट नियम के प्रवर्तन से सम्पत्ति को पूरी तरह गंवा बैठते है।

3·16 सद्भावपूर्ण क्रय प्रासंगिक नहीं :- इस संबंध में यह बताना प्रासंगिक है कि ऐसी स्थिति में नोटिस के बिना सद्भावपूर्ण क्रेता का मूल्य का अभिवचन ऐसे क्रेता के लिए उपलब्ध नही होता है ।" दरअसल, वह सुधार, यदि उसके द्वारा कोई किया गया हो, का सुआवजा प्राप्त करने का भी हकदार नहीं होता है। यह निर्णय किया गया है कि वह उसके अन्तरक द्वारा किए गए किन्ही भी समझौतों और साथ ही ऐसे समझौतों पर आधारित डिक्री द्वारा बाध्य होगा ।[13] नोटिस का न होना तत्वहीन है ।[14]

ऐसी स्थिति से न केवल वाद (जिसमें उनके द्वारा प्रत्यक्षत: और विनिर्दिष्टत: प्रश्नगत सम्पत्ति बेची जा रही हो) के बेईमान पक्षकारो को शरारत करने का अवसर प्राप्त होता है, बल्कि विवादित सम्पत्ति के अनभिज्ञ और सद्भावपूर्ण क्रेताओ को भारी क्षति सहनी पड़ती है और सम्पत्ति से वंचित होना पड़ता है ।

3·17 अन्यत्र सुधार :- ऐसा प्रतीत होता है कि विचाराधीन वाद के सिद्धान्त (जो धारा 52 में शामिल किया गया सिद्धान्त है) संबंधी कड़े सामान्य कानून की कठोरता को सांविधिक उपांतरो द्वारा

जो नोटिस का प्रावधान करते है, अनेक क्षेत्राधिकारो में उदार बनाए जाने की आवश्यकता है । यह समझा जाता है कि इस प्रकार के सुधार को इंग्लैण्ड [15] में और कतिपय अमरीकी क्षेत्राधिकारो [16] में लागू किया गया है। पिछले यू० के० लैण्ड चार्जेज एक्ट, 1925 में निम्नलिखित उपबन्ध अन्तर्विष्ट थे :-

"लम्बित कार्यवाइयो का रजिस्टर

2- (1) किसी लम्बित कार्यवाही, अर्थात भूमि अथवा भूमि में कोई अभिसंधि या उसके संबंध में किसी आरोप के बारे में न्यायालय में लम्बित कार्यवाही, सूचना अथवा कार्यवही और इस अधिनियम के लागू होने के पश्चात दायर की गई किसी दिवाला याचिका को लम्बित कार्यवाहीयों के रजिस्टर में दर्ज किया जाए ।

(2) सामान्य नियमों के अध्यधीन, किसी लम्बित कार्यवाही को रजिस्टर करेने के लिए प्रत्येक आवेदन पत्र में निम्नलिखित विवरण होगे:-

(क) सम्पदा स्वामी अथवा अन्य व्यक्तियों का नाम, पता और विवरण जिसकी सम्पदा या जिनके हित को उसके द्वारा प्रभावित होना आशयित हो, और

(ख) न्यायालय जिसमें कार्यवही, सूचना अथवा कार्यवाही आरम्भ की गई अथवा दायर की गई, और

(ग) कार्यवाही, सूचना अथवा कार्यवही का नाम, और

(घ) जिस दिन कार्यवाही, सूचना अथवा कार्यवाही आरम्भ की गई अथवा दायर की गई,

(3) रजिस्ट्रार रजिस्टर में सम्पदा स्वामी अथवा अन्य व्यक्तियो जिनकी सम्पदा या जिनके हित प्रभावित होना आशयित हो, के नाम में विवरणो को तरकाल दर्ज करेगा ।

(4) किसी फर्म के विरुद्ध दायर की गई दिवाला याचिका के मामले में लम्बित कार्रवाई को रजिस्टर कराने हेतु आवेदनपत्र में भागीदारो के नाम और पते बताए जाएगे, और रजिस्ट्रीकरण प्रत्येक भागीदार के नाम और साथ ही फर्म के नाम में प्रभावी होगा।

(5) दिवाला याचिका के एक लम्बित कार्रवाई के रूप में रजिस्ट्रीकरण हेतु कोई शुल्क नहीं लिया जायगा बशर्ते कि इसका आवेदन उस न्यायालय के रजिस्ट्रार द्वारा किया गया हो जिसमें याचिका दायर की गई है।

(6) न्यायालय, यदि वह इसे उचित समझे, कार्यवाहियों के अवधारण पर, अथवा उनके लम्बन के दौरान यदि इस बात का समाधान हो जाता है कि कार्यवाहियां सद्भाव में नहीं चलाई गई हैं, लम्बित कार्यवाई के रजिस्ट्रीकरण को रद्द करते हुए आदेश करता है और पक्षकार, जिसकी ओर से रजिस्ट्रीकरण किया गया था, को निदेश देता है कि वह रजिस्ट्रीकरण और उसे रद्द किए जाने पर हुए व्यय का पूरा अथवा आंशिक प्रतिदान करे ।

(7) रजिस्ट्रार के पास जब निर्धारित प्रपत्र में उन्मोचन के आदेश अथवा समाधान की अभिस्वीकृति की कार्यालय प्रति दाखिल कर दी जाए, तो वह रजिस्ट्रीकृत लम्बित कार्रवाई, जिसे वह निर्दिष्ट की जाती है, के उन्मोचन अथवा समाधान को दर्ज करे और इस उन्मोचन अथवा समाधान का निर्धारित प्रपत्र में एक प्रमाण पत्र जारी करे ।

(8) किसी लम्बित कर्रवाई का रजिस्ट्रीकरण रजिस्ट्रीकरण की तारीख से पांच वर्षों की अवधि की समाप्ति पर लागू नहीं रहेगा, किन्तु समय-समय पर नवीकृत कराया जाए और नवीकृत करा दिए जाने पर नवीकरण की तारीख से पांच वर्षों के लिए लागू रहेगा ।

अरजिस्ट्रीकृत लम्बित कार्यवाइयों के विरुद्ध क्रेताओं का संरक्षण -

3- (1) कोई लम्बित कार्यवाई जब तक कि वह इस अधिनियम के इस भाग के अनुपालन में तत्समय रजिस्ट्रीकृत नहीं करा दी जाती, किसी क्रेता को इसकी सूचना जारी किए बिना आबद्ध नहीं करेगी ।

परन्तु यह कि दिवाला याचिका के संबंध में यह उपधारा

केवल वैध सम्पदा के दिवालिएपन की उपलब्ध सूचना के बिना धन अथवा धन के मूल्य हेतु सद्भावपूर्ण क्रेता के पक्ष में लागू होगी ।

(2) जहाँ तक वैध सम्पदाओं के किसी अन्तरण अथवा सृजन का संबंध है, इस अधिनियम के लागू होने के पश्चात दायर की गई कोई दिवाला- याचिका, जो लम्बित कार्रवाई के रूप में तत्समय रजिस्ट्रीकृत नहीं की जाती है, उसमें कथित दिवालिएपन के किसी कार्य का नोटिस अथवा प्रमाण नहीं होगा ।

(3) दिवालिएपन के कार्य की सूचना के बिना धन अथवा धन के मूल्य हेतु किसी वैधानिक सम्पदा के सद्भावपूर्ण क्रेता के विरुद्ध, लम्बित कार्रवाई के रूप में दिवाला-याचिका के रजिस्ट्रीकरण की तिथि के पश्चात किए गए हस्तांतरण के अन्तर्गत दावे का जब तक हस्तांतरण की तिथि को लम्बित कार्रवाई के रूप में रजिस्ट्रीकरण लागू नहीं हो जाता अथवा इस अधिनियम के भाग तीन के अनुपालन में प्रापक आदेश रजिस्ट्रीकृत नहीं हो जाता, इस अधिनियम के लागू होने के पश्चात किसी दिवालिया हुए न्यासी का अर्जित हक शून्य हो जाएगा ।

3.18 वर्तमान यू० के० लैण्ड चार्जेज एक्ट, 1972 की संबंधित धारा 5, जिसमें लम्बित कार्रवाईयों के रजिस्ट्रीकरण का प्रावधान किया गया है, इस प्रकार है -

"लम्बित कार्रवाईयों का रजिस्टर

5 (1) लम्बित कार्रवाईयों के रजिस्टर में निम्नलिखित को रजिस्टर किया जाए :

(क) भूमि संबंधी लम्बित कार्रवाई

(ख) 1 जनवरी, 1926 को या उसके बाद दायर की गई दिवाला-याचिका ।

(2) इस अधिनियम की धारा 16 के अंतर्गत सामान्य नियमों के अध्यधीन, इस धारा के अधीन रजिस्ट्रीकरण हेतु प्रत्येक आवेदन पत्र में कार्यवाहियों के नाम के विवरण तथा सम्पदा स्वामी अथवा अन्य व्यक्तियों, जिनकी सम्पदा या जिनके हित का

प्रभावित होना आशायित हो, के नाम और पते दिये जायेंगे ।

§3§ रजिस्ट्रीकरण हेतु आवेदन-पत्र में यह भी बताया जायगा-

§क§ यदि यह भूमि लम्बित कार्रवाई से संबंधित है, तो कार्रवाई किस न्यायालय में और किस दिन आरम्भ की गई, और

§ख§ यदि यह दिवाला-याचिका से संबंधित है, तो याचिका किस न्यायालय में और किस दिन दायर की गई।

§4§ रजिस्ट्रार रजिस्टर में सम्पदा के स्वामी अथवा अन्य व्यक्तियों, जिनकी सम्पदा या जिनके हित प्रभावित होना आशायित हो, के नाम में विवरणों को तत्काल दर्ज करेगा।

§5§ किसी फर्म के विरुद्ध दिवाला-याचिका रजिस्टर कराने के लिए आवेदन-पत्र में भागीदारों के नाम और पते लिखे जायेंगे और रजिस्ट्रीकरण प्रत्येक भागीदार के नाम और साथ ही फर्म नाम में प्रभावी होगा ।

§6§ दिवाला-याचिका के रजिस्ट्रीकरण हेतु कोई शुल्क नहीं लिया जायगा बशर्ते कि रजिस्ट्रीकरण हेतु आवेदन उस न्यायालय के रजिस्ट्रार द्वारा किया गया हो जिसमें याचिका दायर की गई है,

§7§ कोई भूमि संबंधी लम्बित कार्रवाई जब तक कि वह इस धारा के अन्तर्गत तत्समय रजिस्ट्रीकृत नहीं करा दी जाती, किसी क्रेता को इसकी सूचना दिए बिना आबद्ध नहीं करेगी ।

§8§ कोई दिवाला- याचिका जब तक वह इस धारा के अन्तर्गत तत्समय रजिस्ट्रीकृत नहीं करा दी जाती, दिवालियपन की उपलब्ध सूचना के बिना, धन अथवा धन के मूल्य के लिए, वैध सम्पदा के सद्भावपूर्वक क्रेता को आबद्ध नहीं करेगी ।

§9§ जहाँ तक वैध सम्पदाओं के किसी अन्तरण अथवा सृजन का संबंध है, कोई दिवाला-याचिका जो इस धारा के अन्तर्गत तत्समय रजिस्ट्रीकृत नहीं की जाती है, याचिका में कथित दिवालियपन के किसी कार्य, नोटिस अथवा प्रमाण नहीं होगा ।

§10§ न्यायालय, यदि वह इसे उचित समझे, कार्यवाहियों के

अवधारण पर, अथवा कार्यवाहियों के लम्बन के दौरान यदि इस बात का समाधान हो जाता है कि कार्यवाहियां सद्भाव में नहीं चलाई गई है, इस धारा के अन्तर्गत रजिस्ट्रीकरण को रद्द करते हुए आदेश करता है और पक्षकार, जिसकी ओर से रजिस्ट्रीकरण किया गया था, को निदेश देता है कि वह रजिस्ट्रीकरण और उसे रद्द किए जाने पर हुए व्यय का पूरा अथवा आंशिक भुगतान करे ।

3.19 बम्बई संशोधन :- संभवत: पाश्चात्य देशों के किए गए सुधारों से प्रेरित होकर (भूतपूर्व) बम्बई प्रान्त ने धारा 52 में 1939 में काफी समय पहले ही (1939 का बम्बई अधिनियम 14 के रूप में) संशोधन कर दिया था । बम्बई संशोधन का आशय इस प्रकार है :-

"(2) धारा 52 को उक्त धारा की उप-धारा (1) के रूप में पुन:संख्यापित किया जाएगा, और -

(1) इस पुन:संख्यापित उप-धारा (1) में, "प्रश्न" शब्द के पश्चात " यदि ऐसे वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन की कोई सूचना भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 की धारा 18 के अन्तर्गत रजिस्ट्रीकृत की जाती है" शब्द और आंकडे तथा "सम्पत्ति" शब्द के पश्चात जहाँ यह शब्द दूसरी बार आता है" इस प्रकार रजिस्ट्रीकृत नोटिस के पश्चात" शब्द अन्तर्विष्ट होंगे, और

(11) इस पुन:संख्यापित उक्त उपधारा (1) के पश्चात निम्न-लिखित अन्तर्विष्ट किया जाएगा, यथा :

"(2) उपधारा (1) में निर्दिष्ट किसी वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन की प्रत्येक सूचना में निम्नलिखित विवरण शामिल होंगे, यथा :-

(क) स्थावर सम्पत्ति के स्वामी तथा अन्य व्यक्तियों, जिनके स्थावर सम्पत्ति मे अधिकार प्रश्नगत है, के नाम और पता,

(ख) स्थावर सम्पत्ति , जिसमें अधिकार प्रश्नगत है, का विवरण

(ग) न्यायालय जिसमें वाद अथवा कार्यवाही लम्बित है,

(घ) वाद अथवा कार्यवाही का स्वरूप और नाम,

(ङ) जिस तिथि को वाद अथवा कार्यवाही संस्थित की गई"।

§देखिए 1939 का बम्बई अधिनियम, 1939, धारा 2 और 3 § 15.6.1939 से §"

बम्बई संशोधन में हितकारी सिद्धान्त शामिल है और उसका उद्देश्य सद्भावपूर्ण क्रेताओं के संरक्षण के अलावा, वाद के बेईमान पक्षकारों की ओर से की जाने वाली किसी भी शरारत के अवसर को समाप्त करना है। संशोधन में विचार किया गया है [17] कि धारा 52 में निहित नियम को लागू करने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन की सूचना को आवश्यक विवरण के साथ भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 के अन्तर्गत रजिस्ट्रीकृत किया जाए। सामान्यतः, वाद दायर करने वाला पक्षकार ऐसे वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन को रजिस्टर कराने में रुचि रखेगा। एक सामान्य परिश्रमी क्रेता से आशा की जाती है कि वह उसके द्वारा खरीदी जाने वाली सम्पत्ति के सम्बन्ध में रजिस्ट्रेशन कार्यालय से गैरविलंगम प्रमाण-पत्र § नान इन्कम्ब्रैंस सर्टीफिकेट § प्राप्त कर लेगा। यदि वाद अथवा कार्यवाही की सूचना रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अन्तर्गत रजिस्ट्रीकृत की जाती है तो रजिस्ट्रेशन कार्यालय उक्त सूचना को उसके द्वारा जारी किए गए प्रमाण-पत्र में स्वतः ही शामिल कर लेगा जो क्रेता के ध्यान में आ जाएगा। इसके पश्चात यदि उसे धारा 52 में अन्तर्विष्ट नियम के प्रवर्तन से कोई क्षति होती है, तो वह इसकी शिकायत नहीं कर सकता है।

हम उल्लेख कर सकते है कि 1939 के बम्बई संशोधन अधिनियम 14 के आधार पर "विचारधीन वाद" का नियम केवल तभी लागू होता है जब वाद, जिसमें सम्पत्ति से संबंधित कोई अधिकार प्रत्यक्षतः और विनिर्दिष्टतः प्रश्नगत हो, के लम्बन की सूचना रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 18 के अन्तर्गत रजिस्ट्रीकृत की जाए। देखिए आनन्द निवास §प्रा0§ लि0 बनाम आनन्दजी [18]

आयोग को, अपनी पिछली रिपोर्ट §70वीं रिपोर्ट, पैरा 47.11 § में बम्बई संशोधन के अनुसार किसी वाद की सूचना के रजिस्ट्रीकरण का प्रावधान किए जाने की आवश्यकता के प्रश्न पर विचार करने

का सुअवसर प्राप्त हुआ था किन्तु उसने ऐसे संशोधन की सिफारिश करने मे रुचि नहीं दिखाई क्योंकि यह विचार किया गया कि इसमें रजिस्ट्रीकरण अधिनियम का संशोधन अन्तर्ग्रस्त हो सकता है, दूसरे उक्त अधिनियम में ऐसे संशोधन को विधि आयोग द्वारा उक्त अधिनियम संबंधी अपनी रिपोर्ट में उचित नहीं बताया गया और इसके अतिरिक्त आयोग इस संबंध मे भी आश्वस्त नहीं था कि क्या संशोधित प्रक्रिया उन सभी राज्य क्षेत्रों के लिए उपयुक्त होगी जिनमे सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम लागू है।

आयोग ने इस समस्या पर गम्भीरता से विचार किया है और उसकी यह सुविचारित राय है कि भूमि की बढ़ती हुई कीमतों को ध्यान में रखते हुए सद्भावपूर्ण क्रेता के प्रति कपटपूर्ण व्यवहार किए जाने की प्रवृत्ति पनप रही है और विद्यमान परिदृश्य में उसका हित काफी हद तक संकट में पड़ जाएगा। वह भारी नुकसान और सम्पत्ति से वंचन के अलावा, वाद (जिसमें उनके द्वारा बेची जाने वाली सम्पत्ति प्रत्यक्षतः और विनिर्दिष्टतः प्रश्नगत होती है) के बेईमान पक्षकारों की शरारत का शिकार बनता है।

ऐसी विषम स्थितियों का निवारण करने की दृष्टि से यह अनुभव किया गया है खामियों को दूर करने वाला संशोधन लाना आवश्यक है। तथापि, यह नोट किया जाए कि 1939 के बम्बई अधिनियम 4 की इस धारा में किए गए संशोधन के अनुसार वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन की सूचना के रजिस्ट्रीकरण की आवश्यकता को शामिल कर लेने पर धारा में एक और घटक यथा, भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन की सूचना का रजिस्ट्रीकरण शामिल करना होगा। यह पूर्णतः स्वाभाविक है कि यदि किसी स्थिति विशेष में कानून के उपबंध का कोई आवश्यक घटक गायब हो, तो धारा का प्रवर्तन सराहनीय नहीं होगा। दूसरे शब्दों में, जहाँ किसी पक्षकार द्वारा वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन की सूचना का रजिस्ट्रीकरण नहीं कराया जाता है, तो धारा 52 आकर्षक नहीं होगी और निस्संदेह, इस रजिस्ट्रीकरण के अभाव में पक्षकार विवादित सम्पत्ति के विक्रय में कानूनी रूप से

स्वतंत्र होगे, जो कि इस समय विद्यमान धारा 52 के अन्तर्गत कानूनी रूप से अनुज्ञेय नहीं है। किसी पक्षकार द्वारा कतिपय तथ्य और परिस्थितियां नियंत्रण के बाहर होने के कारण वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन की सूचना को रजिस्ट्रीकृत कराने में कुछ विलम्ब हो सकता है। वस्तुत: इससे एक महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या वाद अथवा कार्यवाही के किसी पक्षकार को ऐसे अन्तर्काल के दौरान विवादित सम्पत्ति के विक्रय हेतु कानूनी स्वीकृति लेनी चाहिए । ऐसी स्थिति उस मामले में उत्पन्न होती है जहां अस्थायी व्यादेश अथवा अंतरिम आदेश आदि की स्थिति में वादी को तत्काल राहत की आवश्यकता होती है और उसके पास वाद अथवा कार्यवाही की सूचना को भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अन्तर्गत साथ ही साथ रजिस्ट्रीकृत कराने का समय ही नहीं होता है। विशेषरूप से पक्षकार को वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन की सूचना को रजिस्ट्रीकृत कराने के लिए कुछ जीवत समय पर इस विषम स्थिति को दूर करना होगा। दूसरा उपाय यह है कि वाद अथवा कार्यवाही के किसी पक्षकार के नियंत्रण से बाहर होने पर वाद अथवा कार्यवाही की सूचना के रजिस्ट्रीकरण की आवश्यकता को लागू न करने का प्रावधान किया जाए । ऐसी स्थिति में, यदि कोई पक्षकार, उसके वश से बाहर होने के कारण वाद अथवा कार्यवही के लम्बन की सूचना को रजिस्ट्रीकृत नहीं करवा पाता है, तो केवल ऐसी सूचना के रजिस्ट्रीकृत न होने के कारण ही दूसरे पक्षकार को सम्पत्ति अन्तरित अथवा अन्यथा व्ययनित करने का अधिकार नहीं मिलेगा जिससे कि उसका/प्रभाव वाद अथवा कार्यवाही के किसी अन्य पक्षकार के किसी डिक्री या आदेश के अधीन, जो उसमें दिया जाए, अधिकारों पर पड़े । जहां तक किसी व्यक्ति के नियंत्रण के बाहर होने के कारण वाद अथवा कार्यवही की सूचना के भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अन्तर्गत रजिस्ट्रीकरण की आवश्यकता से छूट देने का प्रावधान किए जाने के विकल्प का संबंध है, इस बारे में यह कहा जा सकता है कि ऐसा प्रावधान करने से कई बार विवाद के प्रश्न खड़े हो सकते है कि क्या वाद अथवा कार्यवाही के किसी पक्षकार द्वारा इस प्रयोजन

हेतु जो कारण दिए जाएंगे क्या उन्हें नियंत्रण से बाहर के कारण कहा जा सकता है । अतः हमारी राय है कि किसी वाद अथवा कार्यवाही की सूचना के रजिस्ट्रीकरण के लिए उचित समय सीमा के निर्धारण के बारे में उपर्युक्त पहला विकल्प अधिक उचित प्रतीत होता है। तथापि, उचित समय सीमा निर्धारित करते समय यह सुनिश्चित करना होगा कि किसी भी पक्षकार को निर्धारित समय सीमा समाप्त होने तक वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन के दौरान विवादित सम्पत्ति को अन्तरित अथवा अन्यथा व्ययनित करने का कोई अधिकार नहीं मिलना चाहिए । हमारे देश की भिन्न- भिन्न भौगोलिक स्थितियों को ध्यान में रखते हुए, हमें यह प्रतीत होता है कि वाद अथवा कार्यवाही की सूचना को भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अन्तर्गत रजिस्ट्रीकृत कराने हेतु वाद अथवा कार्यवाही के पक्षकारों के लिए तीन महीने का समय पर्याप्त होगा ।

3.20 सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 में संशोधन की सिफारिश:-

हमारी राय है कि बम्बई संशोधन द्वारा लागू "विचाराधीन वाद सूचना" संबंधी उपबंध एक हितकारी उपबंध है और यह सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 52 में संशोधन करके अखिल भारतीय स्तर पर समाविष्ट किया जाना चाहिए । तथापि, हम यह भी कहना (संक्षेप में) चाहते हैं कि यदि क्रेता को मुकदमे के वास्तविक लम्बन की सूचना मिल जाती है तो उसे संरक्षण नहीं मिलना चाहिए (भले ही वहाँ विचाराधीन वाद की कोई सूचना रजिस्ट्रीकृत न की गई हो) क्योंकि किसी वाद अथवा कार्यवाही की सूचना के रजिस्ट्रीकरण का प्रावधान किए जाने का मूल उद्देश्य यह है कि यदि किसी व्यक्ति को रजिस्ट्रीकरण के कारण किसी वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन के बारे में पता लगता है, तो धारा 52 में अन्तर्विष्ट विचाराधीन वाद का सिद्धान्त उसके विरुद्ध पूरी तरह से लागू होना चाहिए । यही बात समुचित रूप से उस व्यक्ति पर लागू की जा सकती है जिसे किसी वाद अथवा कार्यवही के लम्बन का ज्ञान अथवा उसकी सूचना हो और ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध, भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अन्तर्गत किसी वाद अथवा कार्यवाही का रजिस्ट्रीकरण न होने के बावजूद ,

विचाराधीन वाद का सिद्धान्त तर्कसंगत रूप से लागू किया जा सकता है। चूंकि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 64, 74 और आदेश 21, नियम 102 विशिष्ट और स्वत: स्पष्ट संहिता है, इसलिए उन्हे हमारे द्वारा विचारविमर्श किए जाने के कारण अध्याय चार में सुरक्षित रखे जाने की आवश्यकता है । अत: हमारी सिफारिश यह है कि सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 52 में निम्नलिखित प्रकार से संशोधन किया जाए :-

"52. स्थावर संपत्ति संबंधी वाद के लम्बित रहते हुए स्थावर सम्पत्ति का अन्तरण

(1) जम्मू- कश्मीर राज्य को छोड़कर भारत की सीमाओं के अन्दर प्राधिकारवान या केन्द्रीय सरकार द्वारा ऐसी सीमाओं के परे स्थापित किसी न्यायालय में ऐसे वाद या कार्यवाही के लंबित रहते हुए, जो दुस्संधिपूर्ण न हो और जिसमें स्थावर सम्पत्ति का कोई अधिकार प्रत्यक्षत: और विनिर्दिष्टत: प्रश्नगत हो, और ऐसे वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन की सूचना, जिसमें उप-धारा (2) में विनिर्दिष्ट विवरण दिए गए हो, वादी या दावी के मामले में वाद या कार्यवाही के संस्थित किए जाने की तारीख से या किसी अन्य पक्षकार के मामले में इनके लम्बन के ज्ञान की तारीख से, जैसी स्थिति हो 90 दिन की अवधि के भीतर भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 की धारा 18 के अन्तर्गत रजिस्ट्रीकृत की गई हो, तब इस सूचना के रजिस्ट्रीकृत होने के पश्चात् वह सम्पत्ति उस वाद या कार्यवाही के किसी भी पक्षकार द्वारा उस न्यायालय के प्राधिकार के अधीन और ऐसे निबन्धनों के साथ, जैसे वह अधिरोपित करे अन्तरित या व्ययनित की जाने के सिवाय ऐसे अन्तरित या अन्यथा व्ययनित नही की जा सकती कि उसके किसी अन्य पक्षकार के किसी डिक्री या आदेश के अधीन, जो उसमे दिया जाए, अधिकारो पर प्रभाव पड़े।

परन्तु यह कि पूर्वोक्त 90 दिन की अवधि के दौरान किसी पक्षकार को सम्पत्ति अन्तरित या अन्यथा व्ययनित करने का कोई अधिकार नहीं होगा जिससे कि किसी वाद या कार्यवाही के किसी अन्य पक्षकार के किसी डिक्री या आदेश के अधीन, जो उसमें दिया जाए, अधिकारों पर प्रभाव पड़े ।

परन्तु यह और कि उपधारा (1) में किसी भी बात का सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 64, 74 और आदेश 21, नियम 102 पर प्रभाव नहीं पड़ेगा ।

स्पष्टीकरण:- किसी वाद या कार्यवाही का लम्बन इस धारा के प्रयोजना के लिए उस तारीख को या उस तारीख से प्रारम्भ हुआ समझा जाएगा जिस तारीख को सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय में वह वाद-पत्र प्रस्तुत किया गया या वह कार्यवाही संस्थित की गई और तब तक चलता हुआ समझा जाएगा जब तक उस वाद या कार्यवाही का निपटारा अन्तिम डिक्री या आदेश द्वारा न हो गया हो और ऐसी डिक्री या आदेश की पूरी तुष्टि या उन्मोचन अभिप्राप्त न कर लिया गया हो या तत्समय-प्रवृत्त-विधि द्वारा उसके निष्पादन के लिए विहित किसी अवधि के अवसान के कारण वह अनभिप्राप्य न हो गया हो ।

(2) उपधारा (1) मे निर्दिष्ट किसी वाद या कार्यवाही के लम्बन की प्रत्येक सूचना में निम्नलिखित विवरण शामिल होंगे यथा :

(क) स्थावर सम्पत्ति के स्वामी या अन्य व्यक्तियों, जिनके स्थावर सम्पत्ति के अधिकार प्रश्नगत हो का नाम और पता,

(ख) स्थावर सम्पत्ति, जिसका अधिकार प्रश्नगत हो, का विवरण,

(ग) न्यायालय जिसमें वाद या कार्यवाही लम्बित है,

(घ) वाद या कार्यवाही का स्वरूप और अभिनाभ, और

(ङ) तिथि, जिसको वाद या कार्यवाही संस्थित की गई ।"

(3) उपधारा (1) के उपबन्ध, वाद अथवा कार्यवाही के पक्षकार द्वारा किसी ऐसे व्यक्ति के पक्ष में जिसे इस प्रकार के वाद अथवा कार्यवाही के लम्बित होने का वास्तविक ज्ञान है, स्थावर सम्पत्ति के अन्तरण अथवा अन्यथा व्यवहार पर भी लागू होंगे चाहे ऐसे मामले में कोई सूचना रजिस्ट्रकृत न भी हुई हो ।

3.21 रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 में संशोधन

(धारा 78 को परन्तुक का अंत:स्थापन)

हमारी यह भी राय है कि वाद के पक्षकारों को विचाराधीन वाद की सूचनाओं (जैसा कि ऊँपर विचार किया गया है) को रजिस्ट्रीकृत कराने के लिए प्रोत्साहित किए जाने की दृष्टि से, निचले स्तर पर रजिस्ट्रीकरण शुल्क नही रखा जाना चाहिए । अत: हमारी सिफारिश यह है कि भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 की धारा 78 में निम्नलिखित परन्तुक अन्त:स्थापित किया जाए :-

"परन्तु यह कि किसी वाद या कार्यवाही के लम्बन की सूचना के रजिस्ट्रीकरण हेतु शुल्क, चाहे वह सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 52 को या अन्यथा निर्दिष्ट करके दिया गया हो, सूचना से संबंधित सम्पत्ति के मूल्य पर विचार किए बिना एक सौ रुपये से अधिक नही होगा किन्तु अभिवचन के रूप में संस्थित वाद या कार्यवाही के मामले में किसी वाद या कार्यवाही के लम्बन की सूचना के रजिस्ट्रीकरण हेतु कोई शुल्क देय नही होगा ।"

3.22 रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 की धारा 18 का संशोधन

यह भी वांछनीय है कि भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 जो उन दस्तावेजो के संबंध मे है जिनका रजिस्ट्रीकरण वैकल्पिक है, की धारा 18 में संशोधन किया जाए । इसका आरम्भ निम्नलिखित शब्दो से होता है :-

"18. इस अधिनियम के अन्तर्गत निम्नलिखित मे से किसी भी दस्तावेज को रजिस्ट्रीकृत किया जाए, यथा

इन शब्दो के पश्चात धारा के खण्डो में दस्तावेजो का उल्लेख किया गया है । खण्ड (ङ) तथा (च) इस प्रकार है :-

(ङ) विक्रय ; तथा

(च) अन्य सभी दस्तावेज, धारा 17 के अनुसार जिनका रजिस्ट्रीकृत किया जाना अपेक्षित नही है ।

धारा 18 में एक नया खण्ड जोडना सुविधाजनक रहेगा जो निम्नलिखित है:

(ङङ) सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 में निर्दिष्ट लम्बित वादो अथवा कार्यवाहियो की सूचनाये"

अध्याय तीन

पाद टिप्पणी

1. नाथुबाई बनाम बी0 रामा राव, ए0 आई0 आर0 1956 एस0 सी0 593
2. ए0आई0आर 1973 एस0सी0 569, 581 पर
3. ए0आई0आर0 1970 ए0सी0 1717, 1721 पर
4. प्रभाकर बनाम एन्टोनिया, ए0आई0आर 1971 गोआ 42, 43 पर और मैसर्स अग्रवाल एण्ड कम्पनी बनाम स्टेट ऑफ राजस्थान 1985 आर0 एल0 डब्लू0 576
5. ए0आई0 आर0 1956 एस0 सी0 593, 602 पर
6. टी भूपनारायण सिंह बनाम नवाब सिंह, ए0 आई0 आर0 1957 पटना 729, 731 पैरा 9
7. टी भूपनारायण सिंह बनाम नवाब सिंह ए0 आई0आर0 1957 पटना (चीफ जस्टिस रामास्वामी और जस्टिस राजकिशोर प्रसाद)
8. ए0आई0आर 1973 एस0सी0569
9. राजेन्द्र सिंह बनाम संता सिंह , ए0आई0आर0 1973 ए0सी0 2537
10. मोहम्मद अली बनाम अब्दुल्ला, ए0आई0आर0 1973 मैसूर 131, 133 पर
11. बलविन्दर जीत कौर बनाम फाइनैंशियल कमिश्नर (अपील) पंजाब, ए0आई0आर0 1987 पी0एण्ड एच0 189-190
12. हरिबच्चन बनाम हरभजन, ए0आई0आर 1975 पंजाब एण्ड हरियाणा, 205, 210 पैरा 11
13. उत्तम एण्ड कम्पनी बनाम बाबूराम (1982) इला0 एल0जे 188, 191, 192 पैरा 10-11
14. (क) फैय्याज हुसैन खाँ बनाम पराग नारायण, आई0 एल0 आर0 29, इला0 1339 (पी0 सी0)

    (ख) रपेल औसुसी बनाम रामकृष्ण, ए0आई0आर0 1970 केरल 188

15. धारा 5(7), लैण्ड चार्जेज एक्ट 1972 (ब्रिटेन)

16. ब्लैक लॉ डिक्शनरी (1990) पृष्ठ 932, वाम हस्थ कालम

17. आनन्द निवास (पी) लिमिटेड बनाम आनन्दजी, ए0आई0आर0 1969 सु0को0 414

18. वही, तथा करबी बजु वास्ता बनाम तनबी पोपट वास्ता, ए0आई0आर0 1985, गुजरात 184

अध्याय - चार

धारा 52 और सहबद्ध उपबन्ध

4.1 धारा 52 का लागू होना न्यायालय द्वारा आदेशित किसी सम्पत्ति की कुर्की पर निर्भर नही है। वास्तव में, जहाँ तक विचाराधीन वाद के सिद्धान्त का सम्बन्ध है, यह निष्प्रभावी है[1] । तथापि, यह उल्लेख किया जा सकता है कि कार्यवाहियो के विचाराधीन रहते हुए सम्पत्ति का अन्तरण, सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 से असम्बद्ध सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 64 के अन्तर्गत वर्णित है, जिसमें निम्नलिखित व्यवस्था है :

> "64. कुर्की के पश्चात सम्पत्ति के वैयक्तिक अन्य संक्रामण का शून्य होना : - कुर्क की गई सम्पत्ति या उसमें से किसी हित का ऐसी कुर्की के प्रतिकूल वैयक्तिक हस्तांतरण या परिदान और किसी ऋण, लाभांश या अन्य धनो के निर्णीत ऋणी की कोई देनगी वहाँ तक शून्य होगी जहाँ तक कि कुर्की के अधीन प्रवर्तनीय समस्त दावो का प्रश्न है ।
>
> स्पष्टीकरण:- इस धारा के प्रयोजनार्थ कुर्की के अन्तर्गत प्रवर्तनीय दावो में परिसम्पत्तियो के आनुपातिक वितरण के लिए दावे आते है।

4.2 इस धारा के क्षेत्र और सही आशय पर विचार करते हुए उच्चतम न्यायालय ने नैन्सी जानीलिन्डन बनाम प्रभाती लाल[2] के मामले मे टिप्पणी की है कि यद्यपि यह संदेहास्पद भी है कि वाद अथवा निष्पादन के प्रत्यावर्तन का आदेश है भी अथवा नही, क्या दोष के कारण खारिज आवेदन निष्पादन मे उद्ग्रहीत कुर्की को भूतलक्षी प्रभाव से प्रत्यावर्तित कर सकेगा ताकि वाद अथवा निष्पादन के खारिज किये जाने तथा प्रत्यावर्तन के निर्देशात्मक आदेश की अवधि के बीच किये गये अन्य संक्रामण को प्रभावित कर सके, यह बात स्पष्ट है कि प्रत्यावर्तन का

आदेश कुर्की को उस अवधि के लिए जिसमें कि वह अस्तित्व में थी, अर्थात वाद अथवा निष्पादन आवेदन के खारिज किये जाने से पूर्व, निश्चित रूप से प्रत्यावर्तित या पुनःप्रवर्तित कर सकेगा । इस प्रकार जहाँ निष्पादन में कुर्क की गई सम्पत्ति को निर्णीत ऋणी द्वारा निर्णय के अस्तित्व मे रहने के समय अथवा दोष के कारण खारिज किये गये मामले से पूर्व की गई बिक्री के लिए यह कहना गलत होगा कि निष्पादन मामले के खारिज कर दिए जाने के कारण कुर्की समाप्त हो गई और निष्पादन मामले में प्रत्यावर्तन आदेश से प्रत्यावर्तन से पूर्व किया गया अन्य संक्रामण प्रभावित नही होगा यद्यपि ऐसा अन्यसंक्रामण कुर्की के अस्तित्व मे रहने की अवधि में ही हुआ है।

4.3 सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 64 कुर्की के पश्चात सम्पत्ति के अन्यसंक्रामण को पूर्णतया पाबंदी लगाती है। इस धारा के अन्तर्गत जहाँ कोई कुर्की की गई है, कोई भी वैयक्तिक अन्यसंक्रामण या परिदान और किसी ऋण, लाभांश या अन्य धनो के निर्णीत ऋणी की कोई देनगी वहाँ तक शून्य होगी जहाँ तक कि कुर्की के अधीन समस्त दावो का प्रश्न है। इस धारा के प्रयोजनार्थ कुर्की के अन्तर्गत प्रवर्तनीय दावो में परिसम्पत्तियों आनुपातिक वितरण के लिए दावे आते है । मैसर्स सुप्रीम जनरल फिल्मस् एक्सचेंज लिमिटेड बनाम ब्रिजनाथ सिंह जी देव के मामले में कुर्की के दौरान थियेटर का पट्टे पर देने के मामले पर विचाराधीन वाद का सिद्धान्त तथा सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 64 के लागू होने को मान्यता दी है। सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 और सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 64 के पारस्परिक संबंध पर विचार करते हुए उच्चतम न्यायालय ने निम्नलिखित टिप्पणी की है:-

> "18 यह प्रतिवरोध कि मामला सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 के अधिकार क्षेत्र के बाहर है क्योंकि पट्टे का निष्पादन एक पूर्ववर्ती दावे की संतुष्टी के उद्देश्य से किया गया था, 1948 के समझौते की शर्तों पर एक पत्र में सन्निविष्ट है, जिसकी सामर्थ्य पर प्रतिवादी - अपीलार्थी ने विनिर्दिष्ट निष्पादन के लिए अपना वाद दायर किया । हमने पाया है कि उस वाद

में समझौता-डिक्री की शर्तें तथा 1956 के पट्टा अभिलेख का आशय प्रतिवादी अपीलार्थी को नये अधिकार प्रदान करता है। वास्तव में, ऐसा सन्देह करने के लिए पर्याप्त आधार है कि विनिर्दिष्ट निष्पादन के लिए वाद में समझौता प्रतिवादी कम्पनी के पक्ष में 1956 के पट्टे के निष्पादन में विधिक कठि-नाईयों को अपने अनुकूल बनाने के लिए एक युक्ति के रूप में अपनाया गया । हम इस तर्क को स्वीकार नहीं कर सकते जिसके समर्थन में बिशान सिंह बनाम कान सिंह, 1959 एस0 सी0 आर0 878-ए0आई0आर0 1958, सु0को0 838 मामले का उदाहरण दिया गया है कि पट्टा पूर्ववर्ती अथवा पहले से ही विद्यमान अधिकार का प्रदर्शन मात्र था। हमारे विचार में इसका आशय वादकालीन विचार के दौरा पूर्णतय नये अधिकार का सृजन करना है। अतः इस मामले में विचाराधीन वाद का सिद्धान्त लागू होता है जैसाकि इस न्यायालय ने जयराम मुदालियर बनाम अय्यास्वामी 1973 एस0 सी0आर0 139-ए0 आई0 आर0 1973 एस0सी0569 के मामले में, सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 में सन्निविष्ट, स्पष्ट किया है।

19. अपीलार्थी ने एक वैकल्पिक तर्क यह दिया कि सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 65-क(2)(ड) के अन्तर्गत आने वाला वाद, बन्धककर्ता द्वारा पट्टे की अवधि को तीन वर्ष सीमित करता है, क्योंकि यह एक विशेष प्रावधान है, सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 के प्रावधानो को विस्थापित करता है। यह तर्क विचाराधीन वाद के सिद्धान्त के विशिष्ट उद्देश्यों की अनदेखी करता है जो ऐसे मामले में लागू होते है जिसमे सम्पत्ति से संबंधित मुकदमा, जिसमें पक्षकारो के कृत्यों द्वारा वादकालीन विचार के दौरान अधिकारो के सृजन का प्रयास किया गया है, लम्बित है। इसके अतिरिक्त, इस तर्क के प्रयोजन के लिए, प्रतिवादी- अपीलार्थी का यह मानना है कि सम्पत्ति अन्तरण

अधिनियम की धारा 65-क (2) (ड़) के प्रावधान लागू होते हैं। यदि ऐसा होता तो भी इससे प्रतिवादी-अपीलार्थी के अधिकारों पर कोई ठोस अन्तर नहीं पड़ता, जो यदि धारा 65-क लागू होती तो वाद को दायर किये जाने से पूर्व ही समाप्त हो जाते। तथापि, हमारा विचार है कि क्योंकि यहाँ विचाराधीन वाद का विबन्ध सिद्धान्त लागू होता है, 1956 का तात्पर्यित पट्टा आरम्भ से ही अविधिमान्य है। इस दृष्टि से, धारा 65-क (2) (ड़) के इस मामले के तथ्यों पर लागू होने पर विचार करना आवश्यक नहीं है, जिन्हें प्रतिवादी-अपीलार्थी स्वीकार नहीं करता।

20. जहाँ तक सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 64 के लागू होने का सम्बन्ध है इस प्रश्न पर पक्षकार असहमत है कि डिक्री के निष्पादन में 20-4-1955 को सैन्ट्रल बैंक द्वारा की गई कुर्की जिसमें वादी-प्रत्यर्थी समनुदेशिती था आक्षेपित पट्टे की तारीख 30-3-1956 को विद्यमान थी। अपीलार्थी के विद्वत वकील ने अतिरिक्त जिलाधीश, जबलपुर के न्यायालय में सिविल वाद सं0 3-बी, 1952 में 25-1-1956 को आदेश पत्र पर रिकार्ड किए गये आदेश की शर्तों का सहारा लिया और यह दर्शाया कि उच्च न्यायालय से प्राप्त स्थगन आदेश को ध्यान में रखते हुए निष्पादन के संबंध में आगे कार्यवाही नहीं की जा सकती। तथापि, आदेश पत्र में ऐसा गूढार्थक कथन भी था कि निष्पादन क्योंकि निष्फल है इसलिए रद्द किया जाता है परन्तु कुर्की 6 माह तक जारी रहेगी। उच्च न्यायालय ने आदेश पत्र में कथन के अन्तिम भाग को सम्भवतया इस आधार पर शून्य तथा निष्प्रभावी माना है कि उच्च न्यायालय द्वारा निष्पादन कार्यवाही पर स्थगन आदेश दे दिये जाने के पश्चात कुर्की उठाना अथवा निष्पादन कार्यवाही को रद्द करना अतिरिक्त जिलाधीश के अधिकार क्षेत्र में नहीं आता है। उच्च न्यायालय के आदेश के निबन्धन हमारे पास उपलब्ध किसी भी सामग्री से स्पष्ट नहीं है। दूसरी ओर वादी-प्रत्यर्थी के विद्वत वकील ने उसी वाद में उसी

न्यायालय द्वारा 30-4-1960 को पारित आदेश का सहारा लिया इस आदेश में कहा गया है कि डिक्री धारक तथा निर्णीत-ऋणी के बीच एक समझौता हुआ है जिसके अन्तर्गत डिक्री धारक प्लाजा टाकीज को छोड़कर जिस पर कुर्की जारी रहेगी सम्पत्ति की कुर्की उठाने के लिए सहमत है। अतः हम इस विचार से सहमत नहीं हो सकते कि विचारण न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के एक जैसे निष्कर्ष कि 1952 के वाद सं0 3-बी में 4-5-1955 की डिक्री के निष्पादन में प्लाजा टाकीज कुर्क किया गया था और यह कि 30-3-1956 को निष्पादित आक्षेपित पट्टे के समय कुर्की विद्यमान थी त्रुटिपूर्ण है। इन निष्कर्षों पर 1956 में पट्टे पर सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 64 के प्रावधान भी निश्चित रूप से लागू होते है। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 64 वास्तव में, विशिष्ट परिस्थितियों में विचाराधीन वाद के सिद्धान्त की प्रासंगिकता स्थापित करता है।"

4.4 सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 74 भी, जो बिना किसी न्यायोचित कारण के डिक्री के निष्पादन में बाधा अथवा अवरोध का निषेध करती है, संगत प्रतीत होती है। इस धारा का पाठ इस प्रकार है:-

"जहाँ न्यायालय इस बात से सन्तुष्ट है कि स्थावर सम्पत्ति के कब्जे की डिक्री का धारक अथवा डिक्री के निष्पाद में विक्रय की गई स्थावर सम्पत्ति का क्रेता को निर्णीत-ऋणी अथवा उसकी ओर से किसी व्यक्ति द्वारा सम्पत्ति पर कब्जा प्राप्त करने में बाधा या अवरोध पैदा किया जाता है और इस प्रकार की बाधा या अवरोध का कोई न्यायोचित कारण नहीं है तो न्यायालय डिक्री धारक अथवा क्रेता के अनुरोध पर निर्णीत-ऋणी अथवा ऐसे ही किसी अन्य व्यक्ति को 30 दिन तक के लिए सिविल कारागार में निरुद्ध करने का आदेश दे सकता है और आगे यह निदेश भी दे सकता है कि डिक्री धारक अथवा क्रेता को सम्पत्ति का कब्जा दिलाया जाए।

कोई व्यक्ति जो धारा 52 के प्रावधानो का अतिक्रमण करके वादकालीन अन्तरण से सम्पत्ति अर्जित करता है तो वह मामला स्वत: ही उपर्युक्त धारा 74 के अन्तर्गत आयेगा । दूसरे शब्दो में धारा 52 के प्रावधानो के विरुद्ध निर्णीत-ऋणी से सम्पत्ति अर्जित करने वाले अन्तरिती को डिक्री का निष्पादन रोकने या उसमें बाधा उत्पन्न करने का कोई विधिक प्राधिकार या न्यायोचित कारण नही होगा ।

4.5 संहिता के आदेश 21 के नियम 97, 98, 99, 100, 101, 102, 103 तथा 104 में अन्तर्निहित प्रावधान जो विचाराधीन वाद के सिद्धान्त को भी मान्यता देते है, नीचे उद्धृत किये जा रहे है:-

"97. स्थावर सम्पत्ति का कब्जा पाने में प्रतिरोध या बाधा :-

(1) जहाँ स्थावर सम्पत्ति पर कब्जे के लिए डिक्री धारक अथवा डिक्री के निष्पादन में विक्रय की गई ऐसी सम्पत्ति का क्रेता कब्जा पाने में किसी व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले प्रतिरोध या बाधा का प्रतिवाद करते हुए न्यायालय मे आवेदन कर सकेगा ।

(2) जहाँ आवेदन उपनियम (1) के अन्तर्गत किया जाता है वहाँ न्यायालय उस आवेदन पर न्याय-निर्णयन इसमे अन्तर्विष्ट उपबन्धो के अनुसार करने के लिए अग्रसर होगा ।

98. न्याय-निर्णयन के पश्चात आदेश :-

(1) नियम 101 में निर्दिष्ट प्रश्न के अवधारण पर, न्यायालय ऐसे अवधारण अनुसार तथा उप नियम (2) के उपबन्धो के अध्यधीन ,

(क) आवेदन को स्वीकार करते हुए और यह निर्देश देते हुए कि आवेदक को सम्पत्ति का कब्जा दे दिया जाये या आवेदन को खारिज करते हुए आदेश करेगा, या

(ख) ऐसा अन्य आदेश पारित करेगा जैसा वह मामले की परिस्थितियों में ठीक समझे ।

(2) जहाँ, ऐसे अवधारण पर, न्यायालय का समाधान हो गया है कि निर्णीत-ऋणी अथवा उसकी उकसाहट पर या उसकी ओर से

कार्य करने वाले किसी व्यक्ति द्वारा या किसी अन्तरिती द्वारा जहाँ अन्तरण पाद अथवा निष्पादन कार्यवाही के लम्बित रहते हुए किया गया हो, प्रतिरोध किसी उचित कारण से नही किया गया था वहाँ न्यायालय आदेश देगा कि आवेदक को सम्पत्ति का कब्जा दिलाया जाये, और जहाँ आवेदक को कब्जा पाने से फिर भी रोका जाता है या इस कार्य में बाधा डाली जाती है तो न्यायालय निर्णीत-ऋणी या उसकी उत्साहट पर या उसकी ओर से कार्यवाही करने वाले किसी भी व्यक्ति को ऐसी अवधि के लिए, जो तीस दिन तक की हो सकेगी, सिविल बंदीगृह में निरुद्ध किये जाने के लिए आदेश भी आवेदक की प्रेरणा पर दे सकेगा ।

"99. डिक्री धारक अथवा क्रेता द्वारा बेकब्जा किया जाना :-

(1) जहाँ निर्णीत ऋणी के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को ऐसी सम्पत्ति पर कब्जे के लिए डिक्री धारी या, जहाँ डिक्री के निष्पादन में सम्पत्ति का विक्रय कर दिया गया है वहाँ, क्रेता द्वारा बेकब्जा किया जाता है वहाँ वह व्यक्ति इस प्रकार बेकब्जा किये जाने की शिकायत करते हुए न्यायालय मे आवेदन कर सकता है।

(2) जहाँ ऐसा आवेदन किया जाता है वहाँ न्यायालय आवेदन पर उसमे अन्तर्निहित उपबन्धो के अनुसार न्याय-निर्णयन के लिए कार्यवाही करेगा ।

"100. बेकब्जा किये जाने की शिकायत संबंधी आवेदन पर पारित आदेश :-

नियम 101 में निर्दीशित प्रश्न के अवधारण पर, ऐसे अवधारण के अनुसार न्यायालय _

(क) आवेदन को स्वीकार करते हुए और यह निर्देश देते हुए कि आवेदक को सम्पत्ति का कब्जा दे दिया जाये या आवेदन को खारिज करते हुए आदेश करेगा, या

(ख) ऐसा अन्य आदेश पारित करेगा जैसा वह मामले की परिस्थितियो में ठीक समझे ।

"101. अवधारित किये जाने वाला प्रश्न:- नियम 97 या नियम 99 के अधीन किसी कार्यवाही के पक्षकारो अथवा उसके प्रतिनिधियो के मध्य उत्पन्न होने वाले और आवेदन के न्याय-निर्णयन से सुसंगत सभी प्रश्न, जिनके अन्तर्गत सम्पत्ति का अधिकार, हक या हित से संबंधित प्रश्न भी है, आवेदन को निपटाने वाले न्यायालय द्वारा अवधारित किये जायेंगे न कि पृथक वाद द्वारा और इस प्रयोजन के लिए न्यायालय, तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि मे अन्तर्विष्ट किसी प्रतिकूल बात के होते हुए भी, ऐसे प्रश्न का विनिश्चय करने की अधिकारिता रखने वाला समझा जायेगा ।

"102. कार्यकालीन अन्तरिती पर इन नियमो का लागू न होना:- नियम 98 और 100 में कोई भी बात स्थावर सम्पत्ति के कब्जे के लिए डिक्री के निष्पादन में उस व्यक्ति द्वारा किये गये प्रतिरोध या डाली गई बाधा को, या किसी ऐसे व्यक्ति के बेकब्जा किये जाने को लागू नही होगी जिसे निर्णीत ऋणी ने वह सम्पत्ति उस वाद के , जिसमे डिक्री पारित की गई थी, संस्थित किये जाने के पश्चात अन्तरित की है ।

"103. आदेश को डिक्री माना जाना:- जहाँ नियम 98 या नियम 100 के अन्तर्गत किसी आवेदन पर न्याय-निर्णयन हुआ है, उस पर पारित आदेश का प्रभाव डिक्री के समान ही होगा ।

"104. नियम 101 या नियम 103 के अधीन पारित आदेश लम्बित वाद के परिणाम के अधीन होगा:- नियम 101 या नियम 103 के अन्तर्गत किया गया आदेश उस वाद के परिणाम के अधीन होगा जो कार्यवाही आरम्भ होने की तिथि को लम्बित था, यदि ऐसे वाद मे जिस पक्षकार के विरुद्ध नियम 101 या नियम 103 के अन्तर्गत आदेश पारित किया गया है उसने उस सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयास किया था जिस पर वह वर्तमान कब्जे का दावा करता है।"

4.6 उपर्युक्त नियमो में अन्तर्निहित स्कीम के अवलोकन से पता चलता है कि आदेश 21 के नियम 102 के आधार पर सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21 के नियम 98 और 102 के अन्तर्गत पारित आदेशो के प्रवर्तन के लिए एक अपवाद रखा गया है कि जहाँ डिक्री के निष्पादन में प्रतिरोध या बाधा डालने वाला व्यक्ति वह है जिसे वाद के लम्बित रहने के दौरान, जिसमे कि डिक्री पारित की गई थी, निर्णीत-ऋणी द्वारा सम्पत्ति अन्तरित की गई है। यह अपवाद मूलत: इस सिद्धान्त पर आधारित है कि वाद के लम्बित रहते हुए, जिसमे वादग्रस्त सम्पत्ति मे कोई अधिकार अन्तर्ग्रस्त है, स्थावर सम्पत्ति के कब्जे के अन्तरण से वाद में पारित डिक्री से ऐसी सम्पत्ति के संबंध में उठने वाले अधिकार विधिक रूप में प्रभावित नही हो सकेंगे । इस नियम में निर्देशित अन्तरण केवल सम्पत्ति के हक का ही अन्तरण नही है अपितु इसके कब्जे का भी है चाहे वह हक के अन्तरण के साथ है या नही [कांगसाबाई बनाम पूर्णधामल ए0आई0 आर0 1957 मद्रास 458] । इस प्रश्न पर कि नियम 102 लागू होता है अथवा नही, उच्च न्यायालयों के मतो में अन्तर थे । पटना उच्च न्यायालय का विचार था कि यह नियम लागू नही होता है [मुना दुर्गा बनाम कृष्णा राव 24 पटना 695[4] जबकि कलकत्ता उच्च न्यायालय का विचार था कि यह लागू होता है [विपिन बनाम हेमचन्द्र][5] । सिविल प्रक्रिया संहिता [संशोधन] अधिनियम 1976 द्वारा आदेश 21 के नियम 102 के नीचे स्पष्टीकरण जोड दिये जाने के पश्चात, जिसके द्वारा अब अन्तरण शब्द को विधि के प्रवर्तन द्वारा अन्तरण सहित के रूप में परिभाषित किया गया है। यह विवाद अब विद्यमान नहीं है। कलकत्ता उच्च न्यायालय ने विपिन के मामले में[7] अपने पूर्व निर्णय को ध्यान में रखते हुए नगेन्द्र नाथ साहू बनाम रामकृष्ण राय साहू के मामले के आदेश 21 के नियम 102 का निश्चयत प्रभाव इस प्रकार माना है:-

"[21] आई0एल0आर0[1939]2 कलकत्ता 63 ए0आई0आर 1939 कलकत्ता 709] मे उल्लिखित मामले में जस्टिस एल0जे0 द्वारा बताये गये महत्वपूर्ण कारण नीचे उद्धृत किये जा रहे है:-

"विचाराधीन वाद के संबंध में सामान्य विधिक उपबन्ध सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 में अन्तर्विष्ट है।

तथापि, सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 2(घ) को ध्यान में रखते हुए जिस मामले पर हम विचार कर रहे है उसमें धारा 52 के उपबन्ध सीधे ही लागू नही होगे। साथ ही, जहाँ तक निष्पादन कार्यवाही के दौरान अन्तरण का संबंध है, सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21 के नियम 102 में विचाराधीन वाद के सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से मान्यता दी गई है अतः इस नियम के निश्चित प्रभाव पर विचार किया जाना चाहिये ......। इस नियम का निश्चित अर्थ समझने के लिए आदेश 21 के कुछ पूर्ववर्ती नियमों का कुछ संदर्भ अनिवार्य है। यदि स्थावर सम्पत्ति के कब्जे के लिए डिक्री के निष्पादन में कोई प्रतिरोध या बाधा है तो डिक्रीधारक आदेश 21 के नियम 97, नियम 98 के अन्तर्गत शिकायत कर सकता है जहाँ यह व्यवस्था दी गई है कि यदि प्रतिरोध या बाधा का कोई न्यायोचित कारण नही है तो डिक्रीधारक को सम्पत्ति का कब्जा दिलाया जायेगा। यदि प्रतिरोध या बाधा का, आदेश के नियम 99 में उल्लिखित प्रकार का, कोई न्यायोचित कारण है तो डिक्रीधारक का आवेदन खारिज कर दिया जायेगा। परन्तु नियम 102 के उपबन्धों को ध्यान में रखते हुए कब्जाधारी का कब्जे में कोई अधिकार नही माना जा सकता यदि उसने, निर्णीत-ऋणी से, वाद दायर किये जाने के बाद जिसमें कि डिक्री पारित की गई है, सम्पत्ति अन्तरण में प्राप्त की है। ऐसे मामले में डिक्रीधारक का आवेदन नियम 98 के अन्तर्गत स्वीकार किया जायेगा। तत्पश्चात दो नियम 100 तथा 101 आवेदनो के बारे में है जो सम्पत्ति मे कब्जाधारी निर्णीत-ऋणी, जो निष्पादन कार्यवाही की विषय-वस्तु है, के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति द्वारा दिये जायेगे। यदि निर्णीत -ऋणी के अतिरिक्त ऐसी सम्पत्ति के किसी अन्य कब्जाधारी को बेकब्जा कर दिया जाता है तो वह आदेश 21 के नियम 100 के अन्तर्गत शिकायत कर सकता है । यदि यह पाया जाता है कि वह अपने लेखे के रूप में कब्जाधारी है तो न्यायालय उसका कब्जा बहाल

करने का आदेश देगा, जब तक कि नियम 102 के उपबन्धों को ध्यान में रखते हुए निर्णीत-ऋणी ने वाद संस्थित किये जाने के बाद, जिसमें डिक्री पारित हुई, सम्पत्ति अन्तरित न की हो। नियम 102 के प्रावधान, इसलिए, इस प्रकार के है कि उनसे निर्णीत-ऋणी द्वारा किया गया वादकालीन अन्तरण का अन्तरिती, जिसने डिक्री के निष्पादन का प्रतिवाद किया है या कोई बाधा खड़ी की हो, नियम 99 के लाभ से वंचित हो जाता है और कोई ऐसा अन्तरिती जिसे अन्तरित संपत्ति से बेदखल कर दिया गया है। नियम 101 के लाभ से वंचित हो जाता है।

यह तर्क दिया गया है कि "कोई व्यक्ति जिसे निर्णीत-ऋणी ने सम्पत्ति अन्तरित की है" शब्दावली निर्णीत-ऋणी की ओर से केवल स्वैच्छिक अन्यसंक्रामण ही निर्देशित करती है। न्यायालय के विक्रय द्वारा अन्तरण अथवा सार्वजनिक मांग वसूली अधिनियम के अन्तर्गत की गई बिक्री को नहीं। स्वीकृत रूप मे, सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 के अन्तर्गत विचाराधीन वाद के सिद्धान्त का अस्वैच्छिक अन्यसंक्रामण के लिए न्यायिक निर्णय से विस्तार हो गया है और मुझे इसका कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि नियम 102 के अन्तर्गत आने वाले अन्तरण के मामलों पर यही सिद्धान्त लागू क्यों नहीं होना चाहिए।

4.7 सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 तथा सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश के नियम 102 का संयुक्त प्रभाव, जैसा कि जे0पी0शंकर सिंह तथा अन्य बनाम पाठी बी तथा अन्य[8] के मामले में देखा गया है, निम्नलिखित है:-

"सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 तथा सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21 नियम 102 के संयुक्त रूप से पठन की यह अभिधारणा है कि वादकालीन अन्तरण मे क्रेता को सम्पत्ति का ऐसा हक प्राप्त नहीं हो जाता जिसे दूसरे पक्ष के अधिकारों का अहित होता हो और यदि ऐसा क्रेता पारित डिक्री के निष्पादन में कोई प्रतिविरोध या बाधा खड़ी करता है, तो सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21 के नियम 99 अथवा 100

के अन्तर्गत किसी जाँच का विचार नही किया गया ।"

4.8 इसके अतिरिक्त शुम्भचन्द्र जैन बनाम अमित जैन के मामले में उच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया है कि आदेश 21 नियम 102 के उपबन्धों को आकर्षित करने के लिए, डिक्रीधारक को यह दर्शाना ही पर्याप्त है कि आवेदकों का सम्पत्ति पर उनके हक का दावा वाद के संस्थित किये जाने बाद की तिथि का है, जिसमें कि अपीलीय न्यायालय ने अन्तत: डिक्रीधारक के पक्ष मे डिक्री पारित की है।

4.9 उपर्युक्त निर्णयों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21 के नियम 102 के उपबन्धो को ध्यान में रखते हुए, स्थावर सम्पत्ति के कब्जाधारी के लिए, यदि उसने वाद संस्थित किये जाने के पश्चात, जिसमे कि डिक्री पारित हुई, निर्णीत श्रेणी से अन्तरण मे सम्पत्ति प्राप्त की है, यह नही कहा जा सकता कि कब्जे रखने के लिए उसका कोई अधिकार है। नियम 102 का प्रभाव इसलिए इस प्रकार का है कि उससे निर्णीत-ऋणी द्वारा किया गया वादकालीन अन्तरण का अन्तरिती जिसमे डिक्री के निष्पादन का प्रतिवाद किया हो या कोई बाधा खडी की हो नियम 99 के लाभ से वंचित हो जाता है और कोई ऐसा अन्तरिती जिसे अन्तरित सम्पत्ति से बेकब्जा किया जाता हो, नियम 100 के लाभ से वंचित हो जाता है । यह व्यवस्थापित विधि है कि सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 के अन्तर्गत विचाराधीन वाद का सामान्य सिद्धान्त अस्वैच्छिक अन्यसंक्रामण पर भी लागू होगा और नियम 102 के अन्तर्गत आने वाले अन्तरण के मामलों पर भी वही सिद्धान्त लागू होगा ।

4.10 सिविल प्रक्रिया संहिता के विभिन्न उपबन्धों के पीछे , जिन पर ऊपर विचार किया गया है , मुख्य उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि डिक्रीधारक डिक्री के फल से वंचित न रहे। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए सिविल प्रक्रिया संहिता के उपबन्ध अधिनियमित किये गये , जो स्व पृथक रूप में स्पत: पूर्ण संहिता है जिनका सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 से असम्बद्ध स्वतंत्र अपयोजन है। यदि न्यायालय द्वारा पारित डिक्री को निष्पादन कार्यवाही के दौरान निष्फल जाने दिया जाता है तो यह न्याय व्यवस्था के मूल उद्देश्य के प्रतिकूल होगा। इसलिए, हमारा अभिमत है कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 64, 74 तथा आदेश 21 में अन्तर्विष्ट उपबन्ध

एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति करते हैं और इसलिए उनका बनाये रखना बहुत आवश्यक है और यह कि सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 मे प्रस्तावित संशोधन का उपर्युक्त उपबन्धो पर प्रत्यक्ष या विपरीत प्रभाव नही होना चाहिए। यदि इस उद्देश्य से कोई व्यावृत्ति खण्ड नही जोडा जाता है तो इस सम्बन्ध में उठने वाले विवाद की संभावना से बचा नही जा सकता, विशेषतया, जब धारा 52 के उपबन्ध, जैसा कि हम पहले बता चुके है, निष्पादन कार्यवाही पूरी होने तक प्रभावी बने रहेगे । अत: हमारा अभिमत है कि अत्यन्त सावधानी के रूप में तथा विवाद से बचने के लिए इस आशय का एक स्पष्ट उपबन्ध सम्मिलित करना आवश्यक होगा कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 64, 74 तथा आदेश 21 के नियम 102 के उपबन्धों पर सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 में वाद अथवा कार्यवाही की सूचना के पंजीकरण की प्रस्तावित आवश्यकता सम्मिलित करने से किसी प्रकार का कोई भी प्रभाव नही पड़ेगा ।

अध्याय चार

पाद टिप्पणी

1. केदारनाथ बनाम शिवनारायण, ए0आई0आर0 1970 सु0को0 1717
2. ए0आई0आर0 सु0 को0 2060
3. ए0 आई 0 आर0 सु0 को0 1810
4. ए0 आई0 आर0 1946 पटना 134
5. ए0 आई0 आर0 1939 कलकत्ता 709
6. ए0 आई0 आर0 1960 कलकत्ता 299
7. ए0 आई0 आर0 1939 कलकत्ता 709
8. 1985 (खण्ड 52) आन्ध्र लॉ टाइम्स (नोट्स ऑन रीसेन्ट केसज) 32
9. 1989 (2) दिल्ली लॉयर 399

अध्याय पाँच

निष्कर्ष तथा सिफारिशें

5.1 निष्कर्ष :- सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 के अधिनियमित विचाराधीन वाद के सिद्धान्त, जो इस सूत्र के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है कि वाद के विचाराधीन रहते हुए कोई भी नई चीज नहीं की जायेगी, का उद्देश्य किसी वाद या कार्यवही के विचाराधीन रहने के दौरान विवादित सम्पत्ति के अन्तरण अथवा अन्यथा व्यवहार को नामंजूर करके कार्यवाहियों के बाहुल्य को रोकना है । वास्तव में यह सिद्धान्त प्रभावशाली तथा युक्तिसंगत है जो लोकनीति और सुविधा अर्थात मामले में अन्तिम निर्णय की आवश्यकता पर आधारित है। क्योंकि धारा 52 में अन्तर्विष्ट यह सिद्धान्त न्याय व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, इसलिए इस सिद्धान्त को पूर्णतया अभिमुक्त करना कठिन होगा, क्योंकि यदि वाद या कार्यवाही के विचाराधीन रहते हुए किसी नियंत्रण के बिना ही विवादित सम्पत्ति का विक्रय करने की स्वीकृति दे दी जाती है तो यह न्याय की उचित व्यवस्था के लिए हानिकारक होगा । फिर भी, एक इस पहलू को नोट करना होगा कि क्योंकि वर्तमान उपबन्ध किसी वाद या कार्यवाही के विचाराधीन रहते हुए सद्भावपूर्वक कार्य करने वाले सम्पत्ति के क्रेता को भी संरक्षण प्रदान नहीं करता है, इसलिए न्याय की मांग है कि न्याय व्यवस्था में सद्भावपूर्ण परिणाम सुनिश्चित करने के लिए, उपबन्ध में, रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अन्तर्गत वाद अथवा कार्यवाही की सूचना के रजिस्ट्रीकरण की आवश्यकता का प्रावधान जोड़कर उपर्युक्त संशोधन करना आवश्यक है ताकि विचाराधीन वाद के दौरान विवादित सम्पत्ति के क्रेताओं को सूचना दी जा सके। तथापि, हम महसूस करते हैं कि ऐसी सूचना के रजिस्ट्रीकरण के लिए दिये गये समय के दौरान वाद के किसी भी पक्षकार को दूसरे पक्षकार के हित के प्रतिकूल सम्पत्ति के अन्तरण अथवा अन्यथा व्यवहार करने का कोई अधिकार नहीं होगा । देश के विभिन्न भागों में विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इस प्रयोजन हेतु एक न्यायोचित अवधि, जो तीन माह हो सकती है, निर्धारित

किये जाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, यह उल्लेख भी किया जा सकता है कि क्योंकि सिविल प्रक्रिया संहिता के कतिपय उपबन्धों अर्थात धारा 64, 74 तथा आदेश 21 के नियम 102 में भी विचाराधीन वाद का सिद्धान्त अन्तर्निहित है अतः उसकी रक्षा किये जाने की आवश्यकता है ताकि कोई भी पक्षकार डिक्रीधारक को डिक्री के फल से वंचित रखने की स्थिति में न हो सके। इसके अतिरिक्त, धारा 52 में संशोधन करने के लिए रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 में भी परिणामिक संशोधन करने की आवश्यकता होगी।

5.2 सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 में प्रस्तावित संशोधन से मुख्यतः निम्नलिखित लाभ होंगे :-

(क) इससे अनावश्यक मुकदमेबाजी रुकेगी क्योंकि यदि लोगों को पहले से ही वाद अथवा कार्यवाही के विचाराधीन होने की जानकारी होगी, तो वे विवादित सम्पत्ति का क्रय नहीं करेंगे।

(दो) प्रस्तावित संशोधन से लोग यह जान सकेंगे कि सम्पत्ति वादग्रस्त है अथवा नहीं और इससे वे मामले में सही निर्णय ले सकेंगे।

(तीन) प्रस्तावित संशोधन, सम्पत्ति के सौदे को अन्तिम रूप देने के मामले में विवादित सम्पत्ति के सौदे से बचकर अपने हितों को किसी प्रकार की हानि पहुंचाये बिना, लोगों के लिए सहायक सिद्ध होगा।

(चार) प्रस्तावित संशोधन का अन्ततः प्रभाव, विवादित सम्पत्ति के सौदे में अन्तर्ग्रस्त होने से पूर्व लोगों को सूचना देकर कार्यवाहियों के बाहुल्य को रोकना है।

5.3 सिफारिश : सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम 1882 की धारा 52 में प्रस्तावित संशोधन के विभिन्न लाभकारी प्रभावों को ध्यान में रखते हुए जिन पर इसमें ऊपर विचार किया गया है, हम सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम तथा रजिस्ट्रीकरण अधिनियम 1908 में एतद द्वारा निम्नलिखित संशोधन की सिफारिश करते हैं:-

5.3.1. सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 52 का संशोधन:-

धारा 52 निम्नलिखित रूप में संशोधित तथा प्रतिस्थापित की जाये:-

52. स्थावर सम्पत्ति वाद के लम्बित रहते हुए स्थावर सम्पत्ति का अन्तरण:-

(1) जम्मू और कश्मीर राज्य को छोड़कर भारत की सीमाओं के अन्दर प्राधिकारवान या केन्द्रीय सरकार द्वारा ऐसी सीमाओं के परे स्थापित किसी न्यायालय मे ऐसे वाद या कार्यवाही के लम्बित रहते हुए, जो दुरभिसंधिपूर्ण न हो और जिसमे स्थावर सम्पत्ति का कोई अधिकार प्रत्यक्षत: और विनिर्दिष्टत: प्रश्नगत हो और ऐसे वाद अथवा कार्यवाही के लम्बन की सूचना जिसमें उपधारा (2) मे विनिर्दिष्ट विवरण दिये गये हों, वादी या याची के मामले में वाद या कार्यवाही के संस्थित किये जाने की तारीख से या किसी अन्य पक्षकार के मामले में इनके लम्बन के ज्ञान की तारीख से, जैसी स्थिति हो, 90 दिन की अवधि के भीतर भारतीय रजिस्ट्रीकरण अधिनियम 1908 की धारा 18 के अन्तर्गत रजिस्ट्रीकृत की गई हो, तब इस सूचना के रजिस्ट्रीकृत होने के पश्चात वह सम्पत्ति, किसी भी पक्षकार द्वारा उस न्यायालय के प्राधिकार के अधीन और ऐसे निबन्धनों के साथ, जैसे वह अधिरोपित करे, अन्तर्गत या व्ययनित की जाने के सिवाय ऐसे अन्तरित या व्ययनित नहीं की जा सकती कि उसके किसी अन्य पक्षकार के किसी डिक्री या आदेश के अधीन जो उसमें दिया जाए, अधिकारों पर प्रभाव पड़े ।

परन्तु यह कि पूर्वोक्त 90 दिन की अवधि के दौरान किसी पक्षकार को सम्पत्ति अन्तरित या अन्यथा व्ययनित करने का कोई अधिकार नहीं होगा जिससे किसी वाद या कार्यवाही के किसी अन्य पक्षकार के किसी डिक्री या आदेश के अधीन जो उसमें दिया जाए, अधिकारों पर प्रभाव पड़े ।

परन्तु यह और कि उपधारा (1) मे किसी भी बात का लिखित प्रक्रिया संहिता 1908 की धारा 54, 74 और आदेश 21, नियम 102 पर प्रभाव नही पड़ेगा ।

स्पष्टीकरण : किसी वाद या कार्यवाही का लम्बन इस धारा के प्रयोजनो के लिए उस तारीख को या उस तारीख से प्रारम्भ हुआ समझा जायेगा जिस तारीख को सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय में वह वाद-पत्र प्रस्तुत किया गया था या वह कार्यवाही संस्थित की गई थी और तब तक चलता हुआ समझा जाएगा जब तक उस वाद या कार्यवाही का निपटारा अन्तिम डिक्री या आदेश द्वारा न हो गया हो और ऐसी डिक्री या आदेश की पूरी तुष्टि या उन्मोचन अभिप्राप्त न कर लिया गया हो या तत्समय प्रवृत्त विधि द्वारा उसके निष्पादन के लिए विहित किसी अवधि के अवसान के कारण वह अनभिप्राय न हो गया हो ।

(2) उपधारा (1) में निर्दिष्ट किसी वाद या कार्यवाही के लम्बन की प्रत्येक सूचना में निम्नलिखित विवरण शामिल होंगे:-

(क) स्थावर सम्पत्ति के स्वामी या अन्य व्यक्तियों, जिनके स्थावर सम्पत्ति के अधिकार प्रश्नगत हों, का नाम और पता,

(ख) स्थावर सम्पत्ति, जिसका अधिकार प्रश्नगत है, का विवरण,

(ग) न्यायालय जिसमें वाद या कार्यवाही लम्बित है,

(घ) वाद या कार्यवाही का स्वरूप और अभिनाम, और

(ङ) तिथि, जिसको वाद या कार्यवाही संस्थित की गई ।

(3) उपधारा (1) के उपबन्ध वाद अथवा कार्यवाही के पक्षकार द्वारा, किसी ऐसे व्यक्ति के पक्ष में जिसे इस प्रकार के वाद अथवा कार्यवाही के लम्बित होने का वास्तविक ज्ञान है, स्थावर सम्पत्ति के अन्तरण अथवा अन्यथा व्यवहार पर भी लागू होंगे चाहे ऐसे मामले मे कोई सूचना रजिस्ट्रीकृत न भी हुई हो ।

5.3.2. रजिस्ट्रीकरण अधिनियम 1908 का संशोधन -

रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 78 मे निम्नलिखित परन्तुक अन्त:स्थापित किया जाए :-

"परन्तु यह कि किसी वाद या कार्यवाही के लम्बन की सूचना के रजिस्ट्रीकरण हेतु शुल्क, चाहे वह सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 52 को या अन्यथा निर्दिष्ट करके दिया गया हो, सूचना से संबंधित सम्पत्ति के मूल्य पर विचार किये बिना एक सौ रुपए से अधिक नहीं होगा परन्तु अकिंचन के रूप में संस्थित वाद या कार्यवाही के मामले में किसी वाद या कार्यवाही के लम्बन की सूचना के रजिस्ट्रीकरण हेतु कोई शुल्क देय नहीं होगा।"

5.3.3. रजिस्ट्रीकरण अधिनियम 1908 की धारा 18 का संशोधन

धारा 18 में विद्यमान खण्ड (ङ) के पश्चात निम्नलिखित नया खण्ड (ङङ) अन्त:स्थापित किया जाये :-

"(ङङ) सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम 1882 की धारा 52 में निर्दिष्ट लम्बित वाद अथवा कार्यवाही की सूचनायें"

हम तदनुसार सिफारिश करते है ।

ह0
(न्यायमूर्ति, श्रीमती लीला सेठ)
सदस्य

ह0
(न्यायमूर्ति, बी0पी0 जीवन रेड्डी)
अध्यक्ष

ह0
(आर0 एल0 मीना)
सदस्य सचिव